गांधी-मार्ग

विनोबा □ प्रेमचंद □ प्रभाष जोशी
चंद्रशेखर धर्माधिकारी □ नरेन्द्र दुबे
सोपान जोशी

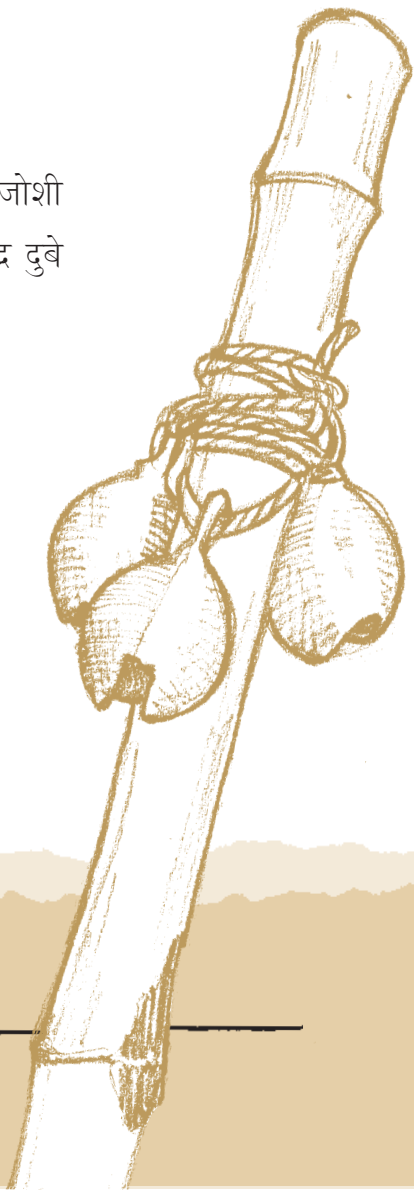

ना जा स्वामी परदेसा

नवंबर-दिसंबर 2011

सृजन स्मरण

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी
फिर भी अपने में रहती थी
सबकी सुनती थी, सहती थी
देती थी सबको दाँव, बंधु

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(1899 - 1961)

◆◆

दिल्ली सरकार
दिल्ली टीम – स्वप्न करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 53, अंक 6, नवंबर-दिसंबर 2011

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1. हिंसा और अहिंसा की सेनाएं	विनोबा	3
2. घनचक्कर समाज	चंद्रशेखर धर्माधिकारी	14
3. मनसंपर्क का कंप्यूटर उबुंटू	सोपान जोशी	25
4. ना जा स्वामी परदेसा	अनुपम मिश्र	33
5. **पुराना चावलः**		
नमक का दारोगा	प्रेमचंद	43
6. **पोथी पढ़ि पढ़िः**		
विनाश की ओर बढ़ता विकास	प्रभाष जोशी	51
7. **टिप्पणियां**		61
8. **पत्र**		63

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित
फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734
Email:gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

हिंसा और अहिंसा की सेनाएं

विनोबा

कार्यकर्ताओं के सामने बोल रहे हैं विनोबा। जगह है धुलिया जेल। सन् है 1937। साने गुरुजी 'शार्ट हैंड' तो जानते नहीं थे, पर उन्होंने अपने 'लांग हैंड' को ही इतना चुस्त-दुरुस्त बना लिया था कि विनोबा जिस गति से बोलते जाते, उसी गति से साने गुरुजी का हाथ चलता रहता। इस तरह लिखा गया गीता का पूरा भाष्य। फिर इसे नाम मिला– गीता प्रवचन। गीता प्रवचन के तब से आज तक 63 संस्करण निकल चुके हैं। और कोई दस लाख प्रतियां पाठकों के हाथ पहुंच चुकी हैं। इस पुस्तक के अनुवाद कितनी भाषाओं में हुए? मत पूछिए। शायद ही कोई भाषा बची हो– मराठी, हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी, गुजराती, बंगला, असमिया, उड़ीया, सिंधी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालय, कोंकणी, बागड़ी, मैथिली, मणिपुरी, संस्कृत, नेपाली तथा अंग्रेजी के अलावा कोरियाई, जापानी, जर्मन और डैनिश भाषा में ये गीता प्रवचन उपलब्ध हैं।

एक ओर कौरव-सेना और दूसरी ओर पांडव सेना आमने-सामने खड़ी की है। उसी तरह यहां सद्गुणरूपी दैवी-सेना और दुर्गुणरूपी आसुरी-सेना एक दूसरे के सामने खड़ी की है। बहुत प्राचीनकाल से मानवीय मन में सद्-असद् प्रवृत्तियों का जो झगड़ा चलता है, उसका रूपकात्मक वर्णन करने की परिपाटी पड़ गई है। वेद में इंद्र और वृत्र, पुराणों में देव और दानव, वैसे ही राम और रावण, पारसियों के धर्म ग्रंथों में अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहब में प्रभु और शैतान इसलाम में अल्लाह और इब्लीस– इस तरह के झगड़े सभी धर्मग्रंथों में आते हैं। काव्य में स्थूल और मोटे विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओं के रूपकों के द्वारा किया

जाता है, तो धर्म ग्रंथों में सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन उन्हें ठोस स्थूलरूप देकर किया जाता है। काव्य में स्थूल का सूक्ष्म द्वारा वर्णन किया जाता है, तो यहां सूक्ष्म का स्थूल के द्वारा। इससे यह नहीं सुझाना है कि गीता के आरंभ में युद्ध का जो वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है वह ऐतिहासिक घटना हो, परंतु कवि यहां उसका उपयोग अपने इष्ट हेतु को सिद्ध करने के लिए कर रहा है। कर्तव्य के विषय में जब मन में मोह पैदा हो जाता है, तब मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह बात युद्ध के एक रूपक के द्वारा समझाई गई है। गीता के इस सोलहवें अध्याय में भलाई और बुराई का झगड़ा बताया गया है। गीता में युद्ध का रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। बारीकी से देखा जाए, तो जो झगड़ा हमारे मन में होता है, वही हमें बाहरी जगत् में मूर्तमान दिखाई देता है। बाहर जो शत्रु खड़ा है, वह मेरे ही मन का विकार साकार होकर खड़ा है। दर्पण में जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मन के बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्र रूप में दिखाई देते हैं।

कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। बारीकी से देखा जाए तो जो झगड़ा हमारे मन में होता है, वही हमें बाहरी जगत् में मूर्तमान दिखाई देता है। बाहर जो शत्रु खड़ा है, वह मेरे ही मन का विकार साकार होकर खड़ा है। दर्पण में जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मन के बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्र रूप में दिखाई देते हैं। जैसे हम जागृति की ही बातें स्वप्न में देखते हैं, वैसे ही जो हमारे मन में है, वही हम बाहर देखते हैं। भीतर के और बाहर के युद्ध में कोई अंतर नहीं है। सच पूछिए तो असली युद्ध भीतर ही है।

हमारे अंतःकरण में एक ओर सद्गुण, तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी-अपनी व्यूह-रचना व्यवस्थित कर रखी है। सेना में जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, उसी प्रकार यहां भी सद्गुणों ने एक सेनापति बना रखा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्याय में 'अभय' को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जानबूझ कर ही इस 'अभय' शब्द को पहला स्थान दिया होगा। बिना अभय के कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सचाई के बिना सद्गुण का कोई मूल्य नहीं है, किंतु सचाई के लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरण में सद्गुण फैल नहीं सकते; उल्टे उसमें वे भी दुर्गुण बन जाएंगे, सत्प्रवृत्तियां भी कमजोर पड़ जाएंगी। निर्भयत्व सब सद्गुणों का नायक है; परंतु सेना को आगा और पीछा, दोनों संभालना पड़ता है। सीधा हमला तो

सामने से होता है, परंतु पीछे से चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्‌गुणों के सामने 'अभय' खम ठोंक कर खड़ा है, तो पीछे से 'नम्रता' रक्षा कर रही है।

इस तरह यह बड़ी सुंदर रचना की गई है। यहां कुल छब्बीस गुण बताए गए हैं। इनमें पचीस गुण प्राप्त हो जाएं और यदि कहीं उसका अहंकार हो जाए तो पीछे से एकाएक चोर-हमले से सारी कमाई खो जाने का भय है। यदि नम्रता न हो, तो यह 'जय' कब पराजय में परिणत हो जाएगी, इसका पता भी नहीं चलेगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' और 'नम्रता' को रखकर सब सद्‌गुणों का विकास किया जा सकेगा। इन दो महान गुणों के बीच जो चौबीस गुण रखे गए हैं, वे सब अधिकतर अहिंसा के पर्यायवाची हैं, ऐसा कहें तो अनुचित नहीं। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह– ये सब अहिंसा के ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा और सत्य, इन दो गुणों में इन सब सद्‌गुणों का समावेश हो जाता है। सब सद्‌गुणों का यदि संक्षेप किया जाए, तो अंत में अहिंसा और सत्य, ये ही दो बाकी रह जाएंगे। शेष सब सद्‌गुण इनके उदर में समा जाएंगे, परंतु निर्भयता और नम्रता की बात अलग है। निर्भयता से प्रगति की जा सकती है और नम्रता से बचाव होता है। सत्य और अहिंसा, इन दो गुणों की पूंजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें अनिरुद्ध संचार करते चले जाना चाहिए। पांव गलत न पड़ जाए, इसके लिए सदा नम्र रहें, फिर कोई खतरा नहीं रह जाता। तब शौक से सत्य-अहिंसा के प्रयोग सर्वत्र करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। सत्य और अहिंसा का विकास निर्भयता और नम्रता के द्वारा होता है।

एक ओर जहां सद्‌गुणों की फौज खड़ी है, वहां दूसरी ओर दुर्गुणों की भी फौज तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गुणों के संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्य का परिचय है। दंभ के तो जैसे हम आदी हो गए हैं। सारा जीवन ही मानो दंभ पर खड़ा किया गया है। अज्ञान के बारे में कहा जाए तो वह एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम पग-पग पर आगे कर देते हैं। मानो अज्ञान कोई बड़ा गुनाह ही न हो। परंतु भगवान कहते हैं– "अज्ञान पाप है।" सुकरात ने इससे उलटा कहा था। अपने मुकदमें के दौरान उसने कहा– "जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञान के बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञान को तुम दंड कैसे दोगे?" परंतु भगवान कहते हैं– "अज्ञान भी पाप ही है।" कानून का अज्ञान यह सफाई की दलील नहीं हो सकती, ऐसा कानून में कहा है। ईश्वरीय कानून का अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवान के और सुकरात के कथन का भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञान की ओर किस दृष्टि से देखना चाहिए, यह भगवान बताते

हैं, तो दूसरे के पाप की ओर किस दृष्टि से देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरे के पापों को क्षमा करना चाहिए, परंतु अपने अज्ञान को क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान थोड़ा-सा भी शेष न रखना चाहिए।

इस तरह एक ओर दैवी संपत्ति और दूसरी ओर आसुरी संपत्ति– ऐसी दो सेनाएं खड़ी हैं। इनमें से आसुरी संपत्ति को छोड़ना और दैवी को पकड़ना है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणों का विकास अनादि काल से होता आया है। बीच में जो काल गया, उसमें भी बहुत-कुछ विकास हुआ है तो भी अभी विकास के लिए गुंजाइश बहुत है। विकास की मर्यादा समाप्त हो गई हो, सो बात नहीं। जब तक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तब तक विकास के लिए हमें अनंत अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो जाए, फिर भी सामाजिक, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्ति को अपने विकास की खाद देकर फिर समाज, राष्ट्र के लाखों व्यक्तियों के विकास की शुरुआत करनी होती है। मानव द्वारा अहिंसा का विकास अनादि काल से हो रहा तो भी आज वह विकास-क्रिया जारी ही है।

एक और जहां सद्गुणों की फौज खड़ी हैं, वहां दूसरी ओर दुर्गुणों की भी फौज तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गुणों के संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्य का परिचय है। दंभ के तो जैसे हम आदी हो गए हैं। सारा जीवन ही मानो दंभ पर खड़ा किया गया है।

अहिंसा का विकास किस तरह होता आया है, यह देखने लायक है। उससे यह समझ में आएगा कि पारमार्थिक जीवन का विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवकाश है।

पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगों के हमले से कैसे बचाव किया जाए। शुरू में समाज की रक्षा के लिए क्षत्रिय वर्ग बनाया गया; परंतु वह आगे चलकर समाज-भक्षण करने लगा। तब अहिंसक ब्राह्मण यह विचार करने लगे कि इन उन्मत्त क्षत्रियों से समाज का बचाव कैसे किया जाए। परशुराम ने स्वयं अहिंसक होकर भी हिंसा का अवलंबन किया। वे क्षत्रियों का विनाश करने लगे। क्षत्रिय हिंसा छोड़ दें, इसलिए वे स्वयं हिंसक बने। यह अहिंसा का ही प्रयोग था, परंतु सफल नहीं हुआ। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का संहार किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे, क्योंकि यह प्रयोग मूल में ही गलत था। जिन क्षत्रियों को नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रिय की वृद्धि उन्होंने की; तो फिर वह क्षत्रिय वर्ण नष्ट कैसे होता? वे स्वयं ही हिंसक क्षत्रिय बन गए। वह बीज तो कायम ही रहा। बीज को कायम रखकर पेड़ों को काटने वाले को वे पेड़ पुनः-पुनः पैदा हुए ही दिखेंगे।

परशुराम थे भले आदमी, परंतु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वयं क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। वस्तुतः उन्हें अपने से ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए था कि पहले वे अपना ही सिर उड़ा देते। मैं जो यहां परशुराम का दोष दिखा रहा हूं, उसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मैं तो बच्चा हूं। परंतु उनके कंधे पर खड़ा हूं, इससे मुझे अनायास ही अधिक दूर का दिखाई देता है। परशुराम के प्रयोग का आधार ही गलत था। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना संभव नहीं। इससे उल्टे हिंसकों की संख्या ही बढ़ती है। परंतु उस समय यह बात ध्यान में नहीं आई। उस समय के भले-भले आदमियों ने, परम अहिंसामय व्यक्तियों ने, जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस काल के महान अहिंसावादी थे। हिंसा के उद्देश्य से उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसा की स्थापना के लिए उन्होंने हिंसा की।

हिंसामय होकर हिंसा दूर करना संभव नहीं। इससे उल्टे हिंसकों की संख्या ही बढ़ती है। परंतु उस समय यह बात ध्यान में नहीं आई। उस समय के भले-भले आदमियों ने, परम अहिंसामय व्यक्तियों ने, जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस काल के महान अहिंसावादी थे। हिंसा के उद्देश्य से उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसा की स्थापना के लिए उन्होंने हिंसा की।

वह प्रयोग असफल हो गया। बाद में राम का युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणों ने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी और यह निश्चय किया था कि हम स्वयं हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसों के आक्रमणों से बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करने वाले तो हैं ही, उन्हीं से राक्षसों का संहार करा डालना चाहिए। कांटे से कांटा निकाल डालना चाहिए। हम स्वतः दूर रहें। अतः विश्वामित्र ने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मण को ले जाकर उनके द्वारा राक्षसों का संहार करवाया।

आज हम ऐसा सोचते हैं कि जो अहिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पांव नहीं हैं, ऐसी लंगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी? परंतु वसिष्ठ, विश्वामित्र जैसों को क्षत्रियों के बल पर अपनी रक्षा करा लेने में कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परंतु यदि राम के जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो? विश्वामित्र कहते– "मैं भले ही मर जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा।" क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा दूर करने का प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चय हो ही चुका था कि स्वयं अहिंसा नहीं छोड़ेंगे– यदि कोई क्षत्रिय नहीं मिला, तो अहिंसक व्यक्ति मर जाना पसंद करेंगे– यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी।

अरण्य कांड में एक प्रसंग है। राम पूछते हैं– "ये ढेर किस चीज के हैं? ऋषि कहते हैं– "ये ब्राह्मणों की हड्डियों के ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणों का त्याग तो था; परंतु साथ ही दूसरों से अपने संरक्षण की अपेक्षा भी वे रखते थे। ऐसी विवशता से अहिंसा पूर्णता को नहीं पहुंच सकती थी।

संतों ने आगे चलकर तीसरा प्रयोग किया। उन्होंने निश्चय किया– "हम अपने बचाव के लिए दूसरों की सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" संतों का यह प्रयोग व्यक्तिनिष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोग को उन्होंने पूर्णता तक पहुंचा दिया, परंतु रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर यदि हिंसक लोगों के हमले होते और समाज संतों से आकर पूछता कि "अब क्या करें?" तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवन में परिपूर्ण अहिंसा का पालन करने वाले वे संत समाज से यही कहते– "भाई हम निर्बल हैं।"

झगड़ा तो मनुष्य और पशु में भी हो रहा है। मनुष्य अभी तक अपने आपस के झगड़े मिटा नहीं पाया। पशु को पेट में ठूंसकर वह जी रहा है, अपने झगड़े वह अभी तक मिटा नहीं पाता, अपने से हीन कोटि के दुर्बल पशुओं, जीवों को खाए बिना वह जी नहीं सकता!

संतों की यह कमी बताना मेरा बाल-साहस होगा, परंतु उनके कंधे पर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है, वही मैं बता रहा हूं। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे, क्योंकि उनकी क्षमा महान है। अहिंसा के साधनों से सामूहिक प्रयोग करने की उन्हें प्रेरणा नहीं हुई, ऐसा तो कह नहीं सकते; लेकिन उस समय की परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किए; परंतु ऐसे पृथक-पृथक किए हुए प्रयोगों से शास्त्र की रचना नहीं होती है। सम्मिलित अनुभवों से शास्त्र बनता है।

संतों के व्यक्तिगत प्रयोग के बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है– सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनों से हिंसा का प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अब तक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोग में अपूर्णता थी और है। विकास-क्रम में यह बात अपरिहार्य ही है। परंतु यह तो कहना ही होगा कि अपने-अपने काल में वे प्रयोग पूर्ण ही थे। दस हजार साल के बाद आज के इस हमारे अहिंसक युद्ध में भी बहुत-कुछ हिंसा का अंश दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसा के और प्रयोग होते ही रहेंगे। ज्ञान, कर्म और भक्ति का ही नहीं, सभी सद्गुणों का विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीता का पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है, परंतु व्यक्ति और समुदाय के जीवन में अभी उनका पूर्ण

विकास होना बाकी है। वचनों का भी विकास होता है। ऋषि मंत्रों के द्रष्टा समझे जाते थे, कर्ता नहीं; क्योंकि उन्हें मंत्रों का जो अर्थ दिखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दिख जाता है, तो यह हमारी विशेषता नहीं है; क्योंकि उन्हीं के आधार पर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहां अहिंसा के ही विकास की जो बात कर रहा हूं, वह इसलिए कि यदि हम सब सद्‌गुणों का साधारण रूप से सार निकालें, तो वह 'अहिंसा' ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्ध में ही पड़े हुए हैं। इस तरह हमने देखा कि इस तत्त्व का विकास कैसे हो रहा है।

अब तक हमने अहिंसा का एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकों के हमले हों, तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें। व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़ों में अहिंसा का विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा

किंतु झगड़ा तो मनुष्य और पशु में भी हो रहा है। मनुष्य अभी तक अपने आपस के झगड़े मिटा नहीं पाया। पशु को पेट में ठूंसकर वह जी रहा है, अपने झगड़े वह अभी तक मिटा नहीं पाता, अपने से हीन कोटि के दुर्बल पशुओं, जीवों को खाए बिना वह जी नहीं सकता। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जीए, इसका विचार अभी तक मनुष्य ने नहीं किया। मनुष्य को मनुष्य की तरह जीना आता नहीं; परंतु अब इस बात का भी विकास हो रहा है।

एक समय था, जब मनुष्य केवल पशुओं पर ही अपना निर्वाह करता था। परंतु जो उत्तम और बुद्धिमान व्यक्ति थे, उन्हें यह नहीं जंचा। उन्होंने यह प्रतिबंध लगाया कि यदि मांस ही खाना हो तो यज्ञ में बलि दिए पशुओं का ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसा रुके। बहुतों ने तो पूर्ण रूप से मांस छोड़ दिया; परंतु जो पूरा-पूरा मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गई कि वे उसे यज्ञ में परमेश्वर को अर्पण करें, कुछ तपस्या करें, तब खाएं। उस समय यह माना गया था कि 'यज्ञ में ही मांस खा सकते हैं,' ऐसा प्रतिबंध लगा देने से हिंसा रुक जाएगी; परंतु बाद में यज्ञ एक सामान्य-क्रम बन गया। ऐसा होने लगा कि जो चाहता, यज्ञ करता और मांस खाता!

तब भगवान बुद्ध आगे बढ़े। उन्होंने कहा– "तुम्हें मांस खाना हो तो खाओ, परंतु भगवान का नाम लेकर तो मत खाओ।" इन दोनों वचनों का हेतु एक ही था– हिंसा की रोक हो, गाड़ी किसी-न-किसी तरह संयम के मार्ग पर आए। यज्ञ-याग करो या न करो– दोनों से हमने मांसाशन का त्याग ही सीखा। इस तरह हम धीरे-धीरे मांस-भक्षण छोड़ते गए। संसार के इतिहास में अकेले भारतवर्ष में ही यह महान प्रयोग हुआ। करोड़ों लोगों ने मांस खाना छोड़ दिया।

आज हम मांस नहीं खाते हैं, इसमें हमारा कोई बड़प्पन नहीं है। पूर्वजों की पुण्याई से हम इसके आदी हो गए हैं। परंतु पहले के ऋषि मांस खाते थे, ऐसा यदि हम पढ़ें या सुनें, तो हमें आश्चर्य मालूम होता है। "क्या बकते हो? ऋषि मांस खाते थे? कभी नहीं।" परंतु मांसाशन करते हुए उन्होंने संयम करके उसका त्याग किया, इसका श्रेय उन्हें है। उन कष्टों का अनुभव आज हमें नहीं होता। उनकी पुण्याई मुफ्त में हमें मिल गई।

पहले वे मांसाशन करते थे और आज हम नहीं करते, इसका अर्थ यह नहीं कि हम आज उनसे बड़े हो गए हैं। उनके अनुभव का लाभ हमें अनायास ही मिल गया है। हमें उनके इस अनुभव का विकास करना चाहिए। हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देने का प्रयोग करना चाहिए। मनुष्य अन्य जीवों का दूध पीए, यह बात भी तो हीनता की है। दस हजार वर्ष बाद लोग हमारे विषय में कहेंगे– "क्यों हमारे पूर्वजों को दूध पीने का व्रत लेना पड़ा था? राम-राम, वे दूध कैसे पीते होंगे? ऐसे थे वे जंगली!"

सारांश यह कि हमें निडर होकर, नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाना चाहिए। सत्य का क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकास के लिए अभी पर्याप्त अवकाश है। किसी भी गुण का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

हमें दैवी संपत्ति का विकास करना है और आसुरी संपत्ति से दूर रहना है। आसुरी संपत्ति का वर्णन भगवान ने इसीलिए किया है कि हम उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। आसुरों के चरित्र का सार 'सत्ता, संस्कृति और संपत्ति' में है। वे कहते हैं– एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसार पर लादी जाए। हमारी ही संस्कृति क्यों लादी जाए? तो कहते हैं– वही सबसे अच्छी है? अच्छी क्यों है? क्योंकि वह हमारी है। चाहे आसुरी व्यक्ति हों, चाहे असुरों से बने साम्राज्य हों, वे इन तीन चीजों का आग्रह रखते हैं।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदों में भरा हुआ है। वैदिक संस्कृति की विजय सारे संसार में होनी चाहिए। अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः। इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वी पर अपनी संस्कृति का झंडा फहराओ। परतु पीठ पर जहां 'सशरं धनुः' रहा, तो फिर आगे हाथ में रखे बेचारे वेदों की समाप्ति ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरान शरीफ में जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। अन्य धर्म का मनुष्य कितना ही उच्च कोटि का क्यों न हो, उसे जब तक ईसा मसीह पर विश्वास नहीं हो जाता, तब तक उसे स्वर्ग मिलने वाला नहीं। भगवान के मंदिर का उन्होंने केवल एक ही दरवाजा रखा

है, वह है ईसा मसीह वाला। लोग तो अपने घरों में अनेक दरवाजे और खिड़कियां लगाते हैं, परंतु बेचारे भगवान के मंदिर में केवल एक ही दरवाजा रखते हैं।

आढयोऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया। मैं ही कुलीन हूं, मैं ही श्रीमंत हूं, मेरे जोड़ का दूसरा कौन है? सब यही मानते हैं। मैं कौन? भारद्वाज-कुल का । मेरी यह परंपरा अबाधित रूप से चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगों का है। कहते हैं, हमारी नसों में नार्मन लोगों का रक्त बहता है! हमारे यहां गुरु-परंपरा है न? मूल आदि-गुरु हैं शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीच में दस-पांच नाम आते हैं, बाद में अपने गुरु का नाम और फिर मैं– ऐसी परंपरा बताई जाती है। इस वंशावली से यह सिद्ध किया जाता है कि हम श्रेष्ठ, हमारी संस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है, तो उसे अपने आचरण में दिखने दो न! अपने जीवन में उसकी प्रभा फैलने दो न! परंतु ऐसा नहीं होता। जो संस्कृति स्वयं हमारे जीवन में नहीं है, हमारे घर में नहीं है, उसे संसार भर में फैलाने की आकांक्षा रखना– इस विचार-पद्धति को आसुरी कहते हैं।

फिर जैसे मेरी संस्कृति सुंदर है, वैसे ही यह विचार भी है कि संसार की सारी संपत्ति रखने के योग्य भी मैं ही हूं। संसार की सारी संपत्ति मुझे चाहिए और मैं उसे प्राप्त करूंगा ही। वह संपत्ति किसलिए प्राप्त करनी है? तो सब में समान रूप से बांटने के लिए। इसके लिए मैं स्वतः अपने को धन-संपत्ति में गाड़ लेता हूं। अकबर ने यही तो कहा था– "ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्य में क्यों नहीं दाखिल होते? एक साम्राज्य बनेगा तो शांति स्थापित होगी।" वह प्रामाणिक रूप से ऐसा मानता था। वर्तमान असुरों की भी ऐसी ही धारणा है कि सारी संपत्ति बटोरनी है। क्यों? उसे फिर सबमें बांटने के लिए!

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथ में केंद्रीयभूत होनी चाहिए। सारी दुनिया मेरे तंत्र में आ जानी चाहिए। स्व-तंत्र यानी मेरे तंत्र के अनुसार चलनी चाहिए। जो मेरे अधीन होगा, जो मेरे तंत्र के अनुसार चलेगा, वही स्वतंत्र। इस तरह संस्कृति, सत्ता और संपत्ति– इन तीन मुख्य बातों पर आसुरी संपत्ति में जोर दिया जाता है।

एक समय ऐसा था, जब समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। शास्त्र वे लिखते, कानून वे बनाते, राजा उनके समक्ष नतमस्तक होते। वह युग बदला। क्षत्रियों का युग आया। घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय किए जाने लगे। यह क्षत्रिय संस्कृति भी आई और चली गई। ब्राह्मण कहता– "मैं विद्या देने वाला, दूसरे लेने वाले, मेरे सिवा गुरु कौन?" ब्राह्मणों को अपनी संस्कृति का अभिमान था। क्षत्रियों का जोर सत्ता पर था– "आज इसे मारा, कल उसे मारूंगा।" इस

बात पर उनका सारा जोर रहता था। फिर वैश्यों का युग आया। "पीठ पर मारो, पर पेट पर मत मारो।" इसमें वैश्यों का सारा तत्त्वज्ञान है, पेट की सारी अक्ल! "यह धन मेरा और वह भी मेरा हो जाएगा"– यही जप और यही संकल्प! अंग्रेज हमें कहते हैं न– "स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परंतु हमारा तैयार माल बेचने की सुविधा, सहूलियतें हमें दे दो, फिर भले ही अपनी संस्कृति को लिए बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं, वे व्यापार के लिए ही होते हैं। यह युग भी जाएगा, जाने का आरंभ भी हो गया है। इस तरह ये सब आसुरी संपत्ति के प्रकार हैं।

हम आसुरी संपत्ति को दूर हटाते रहें। संक्षेप में कहें तो आसुरी संपत्ति का अर्थ– काम, क्रोध, लोभ है। ये ही तीनों सारे संसार को नचा रहे हैं। अब इस नृत्य को समाप्त करो। हमें यह छोड़ देना ही चाहिए। क्रोध और लोभ काम से पैदा होते हैं। काम के अनुकूल क्रोध। गीता में पद-पद पर यह कहा है कि इन तीनों से बचते रहो। सोलहवें अध्याय में अंत में यही कहा है– काम, क्रोध और लोभ, ये ही नरक के तीन बड़े द्वार हैं। इनमें बहुत बड़ा आवागमन होता है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरक का रास्ता खूब चौड़ा है। उसमें मोटरें चलती हैं, बहुतेरे साथी भी रास्ते में मिल जाते हैं; परंतु सत्य की राह संकरी है।

काम, क्रोध और लोभ, ये ही नरक के तीन बड़े द्वार हैं। इनमें बहुत बड़ा आवागमन होता है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरक का रास्ता खूब चौड़ा है। उसमें मोटरें चलती हैं, बहुतेरे साथी भी रास्ते में मिल जाते हैं; परंतु सत्य की राह संकरी है।

तो अब इन काम, क्रोध, लोभ से बचें कैसे? संयम-मार्ग अंगीकार करके। शास्त्रीय संयम का पल्ला पकड़ लेना चाहिए। संतों का अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव संतों को हुए, उन्हीं से शास्त्र बनता है। इस संयम-सिद्धांत का हाथ पकड़ो। व्यर्थ की शंका-कुशंका मत रखो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शंका मत लाइए कि यदि काम-क्रोध उठ गए तो फिर संसार का क्या हाल होगा, वह तो चलना ही चाहिए, क्या थोड़े-से भी काम-क्रोध न रहने चाहिए?

भाइयो, काम-क्रोध पहले से ही भरपूर हैं। आपको जितने चाहिए, उससे भी कहीं अधिक हैं। फिर क्यों व्यर्थ में बुद्धि-भेद पैदा करते हैं? काम, क्रोध, लोभ आपकी इच्छा से रत्ती भर अधिक ही है। यह चिंता न करें कि काम मर जायगा, तो संतति कैसे पैदा होगी? आप चाहे कितनी ही संतति पैदा करें, एक दिन ऐसा आने वाला है, जब पृथ्वी पर से मनुष्य का नाम सर्वथा मिट जाएगा ऐसा वैज्ञानिकों का कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठंढी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी

अत्यंत उष्ण थी। तब उस पर जीवधारी नहीं रहते थे। जीव पैदा ही नहीं हुआ था। एक समय ऐसा आ जाएगा कि पृथ्वी अत्यंत ठंडी हो जाएगी और सारी जीव-सृष्टि का लय हो जाएगा। इस बात में लाखों वर्ष लग जाएंगे। आप कितनी ही संतान-वृद्धि क्यों न करें, अंत में प्रलय निश्चित है। परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-संरक्षण के लिए, संख्या-संरक्षण के लिए नहीं। जब तक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु और सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तब तक कोई चिंता नहीं। उसकी ओर ईश्वर की दृष्टि बनी रहेगी। जिनका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोगों का जीवित रहना, न रहना बराबर है।

इन सब बातों पर ध्यान रखकर सृष्टि में ढंग से रहिए, संयम से चलिए। मनमानी न कीजिए। लोक-संग्रह का अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहें, वैसा किया जाए। मनुष्यों का संघ बढ़ाते जाना, संपत्ति का ढेर इकट्ठा करते जाना– इसे सुधार नहीं कहते। विकास संख्या पर अवलंबित नहीं है। समाज यदि बेशुमार बढ़ने लगेगा, तो लोग एक-दूसरे का खून करने लग जाएंगे। पहले पशु-पक्षियों को खाकर मनुष्य मत्त बनेगा। फिर अपने बाल-बच्चों को खाने लगेगा। काम-क्रोध में सार है, यह बात यदि मान लें, तो फिर अंत में मनुष्य मनुष्य को फाड़ खाएगा, इसमें तिलमात्र संदेह नहीं है।

लोक-संग्रह का अर्थ है, सुंदर और विशुद्ध नीति-मार्ग लोगों को दिखाना। काम-क्रोध से मुक्त हो जाने पर यदि पृथ्वी से मनुष्य का लोप हो जाएगा, तो वह मंगल (ग्रह) में उत्पन्न हो जाएगा। आप चिंता न करें। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है। वह हमारी चिंता कर लेगा। अतः पहले हम मुक्त हो लें। आगे बहुत दूर देखने की जरूरत नहीं है। सारी सृष्टि और मानव-जाति की चिंता न करो। तुम अपनी नैतिक शक्ति बढ़ाओ, काम-क्रोध का पल्ला झाड़कर फेंक दो। आपुला तूं गळा घेईं उगवूनि। पहले अपना गला तो छुड़ा लो! तुम्हारी गर्दन जो फंसी है, पहले उसे बचाओ। इतना कर लें, तो बड़ा काम बने।

संसार-समुद्र से दूर किनारे खड़े रहकर समुद्र की मौज देखने में आंनद है। जो समुद्र में डूब रहा है, जिसकी आंख-नाक में पानी भर रहा है, उसे समुद्र का क्या आनंद है। संत समुद्र-तट पर खड़े रहकर आनंद लूटते हैं। संसार से अलिप्त रहने की इस संत-वृत्ति का जीवन में संचार हुए बिना आनंद नहीं।

अतः कमल-पत्र की तरह अलिप्त रहो। बुद्ध ने कहा है– "संत महान् पर्वत के शिखर पर खड़े रहकर नीचे संसार की ओर देखते हैं, तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढ़ कर देखिए, तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा।

*

घनचक्कर समाज

चंद्रशेखर धर्माधिकारी

वर्धा के बच्चों ने अपना एक क्लब बनाया। अब इसका नाम क्या रखा जाए? बच्चे गए बापू के पास। गांधीजी ने इन्हें दादा धर्माधिकारी के पास भेज दिया। दादा ने कहा कि तुम जैसे घनचक्करों का क्लब तो घनचक्कर ही कहलाना चाहिए। बापू को भी यह नाम जंच गया। फिर इस क्लब के अध्यक्ष भी गांधीजी ही बने और उपाध्यक्ष बने आचार्य कृपलानी! जिस साम्राज्य में कभी सूरज अस्त नहीं होता था, उसमें वर्धा के ये घनचक्कर सदस्य भला क्या करते थे– बता रहे हैं श्री चंद्रशेखर धर्माधिकारीजी।

हम लोग सन् 1935 में बजाजवाड़ी, (वर्धा, महाराष्ट्र) में रहने के लिए आए। बजाजवाड़ी का केंद्रस्थान और विभूति थे पुण्यश्लोक जमनालालजी बजाज। वे एक अलौकिक यजमान थे। उनका आतिथ्य हमेशा लोकोत्तर और वैशिष्ट्यपूर्ण रहा, क्योंकि इस आतिथ्य में अतिथि और यजमान में पारस्परिक विकास करने की योजना थी। उस समय बजाजवाड़ी एक गतिशील तीर्थक्षेत्र था। भारतीय राष्ट्रीय जीवन में जो-जो दिव्य तत्व थे, जो कल्याणकारी भाव और पवित्रता युक्त माधुर्य था, उन सबका तीर्थक्षेत्र था वह। हम लोग पुराणों में जिन महात्माओं का वर्णन पढ़ते हैं, उन्हें एक काल्पनिक आदर्श माना जाता है। लेकिन बजाजवाड़ी में आने के बाद यह पता चला कि वे केवल कवि कल्पनाएं नहीं हैं। सदाचार के ऐसे प्रत्यक्ष चलते-फिरते आदर्श बजाजवाड़ी में उपस्थित थे। लगता था मानो वे आदर्श पुराण-पुरुष ही आधुनिक रूप धारण कर यहां आए हैं।

तपोधन श्रीकृष्णदास जाजू, योगारूढ किशोरलालभाई मश्रुवाला, स्नेहमूर्ति अण्णासाहब सहस्रबुद्धे, कार्यकुशल और नित्यदक्ष भाई धोत्रे ऐसे ही लोगों में से थे। इन सभी पर पूज य गांधीजी के सहवास का तेज छाया हुआ था। आत्मसमर्पण

की प्रतिमूर्ति महादेवभाई देसाई भी कुछ दिन बजाजवाड़ी में हमारे बिलकुल पास में रहते थे। बजाजवाड़ी के पास हरिजन छात्रवास में और बाद में काकावाड़ी में काकासाहब कालेलकरजी का निवास था। अलग-अलग प्रांतों से आए हुए कार्यकर्ताओं के ये परिवार एक विशाल संयुक्त-परिवार की तरह वहां रहते थे। इसलिए वहां रहने वाले लोगों के जीवन को आंतरजातीय, आंतरप्रांतीय तथा आंतरधर्मीय व्यापकत्व अपने आप प्राप्त हो जाता था।

वर्धा गांधीजी की कर्मभूमि थी। 'जीवन प्रांजल हो, उसमें किसी प्रकार की गुप्तता न हो' यह बापूजी की सिखावन थी, इसलिए बजाजवाड़ी के जीवन में एक विशिष्ट खुलापन था। वहां का पूरा वातावरण एक विलक्षण सुरभि और सुभगता से समृद्ध था।

राधाकृष्ण बजाज और अनुताई एक अनोखा दांपत्य था। अनुताई ऊर्फ अनसूया तपोधन श्रीकृष्णदासजी जाजू की कन्या। राधाकृष्ण 'भाया' और अनसूया के विवाह में मैं उपस्थित था। बिना किसी आडंबर के शुभ्र खादी के वस्त्रों में घर के आंगन में ही उनका विवाह हुआ। सौभाग्य सूचक किसी प्रकार का कोई भी अलंकार अनुताई ने कभी नहीं पहना।

हम बजाजवाड़ी में श्री राधाकृष्ण बजाज के बंगले के आधे हिस्से में रहते थे। राधाकृष्णजी अपने परिवार के साथ शेष आधे हिस्से में। कुछ दिन गांधीजी के सचिव महादेवभाई देसाई भी अपने परिवार के साथ वहां रहने आए। बाद में वे सेवाग्राम चले गए। हम लोग जहां रहते थे, उस घर के भी दो हिस्से थे। टिन का एक पार्टिशन इस खूबी से खड़ा किया गया था कि आपसी संबंधों को कोई खलल भी न पड़े और इधर से रसोई घर में बना जायकेदार भोजन पड़ोस में आसानी से पहुंच भी जाए!

तब 'जो अकेला खाता है वह चोर' ऐसी चोरी की व्याख्या थी, इसलिए आपस में बांटकर खाए बगैर कोई रहता न था। चीजें बांटकर खाते हैं तो चीजों की मधुरता और भी बढ़ती है, ऐसी भावना थी। महादेवभाई के सुपुत्र नारायण जिसे हम बावला कहते थे– व्रतों से बंधा हुआ स्वतंत्र जीवन जीते थे। व्रतों का बंधन याने मोहमाया से मुक्त होना! नारायणभाई का नियम था दिन में सिर्फ चार बार खाना। इसलिए इमली, अमरूद आदि पेड़ों से तोड़ते लेकिन फिर बिना खाए अपनी जेब में रख लेते और तभी खाते जब खाने का समय होता! जो अपने बर्ताव में संयमी और व्रतस्थ होता है वही मोह, माया और वासना से मुक्त होता है, स्वतंत्र होता है– ऐसा वे मानते थे। बंधन का नहीं, स्वतंत्रता का है व्रत। बिना व्रतबंधन के मनुष्य मोहासक्त हो सकता है। व्रतस्थ होना यानी मोह तथा व्यभिचार से मुक्त होना। ये महादेवभाई के परिवार

के जीवन-मूल्य थे। इसलिए हम सभी बच्चे नगरनिगम के या सरकारी स्कूलों में पढ़े, पर बावला महात्मा गांधीजी द्वारा सेवाग्राम में शुरू किए हुए बुनियादी विद्यालय में ही पढ़ा।

आज नारायणभाई देसाई गुजरात के वेड़छी गांव में 'संपूर्ण क्रांति विद्यालय' के संचालक हैं। वे जयप्रकाशजी के साथ नवनिर्माण आंदोलन में रहे। शांति सेना का काम भी उन्होंने किया। वे आचार्य विनोबाजी के आंदोलन में थे और अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष रहे हैं। उनके बारे में अधिक विस्तार से लिखने की जरूरत नहीं। उनकी खुद पर लिखी 'बापू की गोद में' तथा महादेवभाई की जीवनी, 'अग्निकुंड मा उगेलू गुलाब' ये बहुत प्रसिद्ध रचनाएं हैं। इधर बापूजी पर चार जिल्दों में 'मारी वाणी एज मारो जीवन' नाम से महत्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई है। इस कृति पर नारायणभाई को भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

राधाकृष्ण बजाज और अनुताई एक अनोखा दांपत्य था। अनुताई ऊर्फ अनसूया तपोधन श्रीकृष्णदासजी जाजू की कन्या। राधाकृष्ण 'भाया' और अनसूया के विवाह में मैं उपस्थित था। बिना किसी आडंबर के शुभ्र खादी के वस्त्रों में घर के आंगन में ही उनका विवाह हुआ। सौभाग्य सूचक किसी प्रकार का कोई भी अलंकार अनुताई ने कभी नहीं पहना। न मंगलसूत्र, न बिंदी, न कंगन। मैंने उन्हें कभी किनार वाली साड़ी पहने नहीं देखा। गोसेवा तथा गोरक्षा के काम में जी-जान से जुटे रहे। उनकी समर्पण वृत्ति का कोई जवाब नहीं। अपना सब कुछ दांव पर लगाकर काम करने की उनकी जिद कायम रही। महात्मा गांधी और जमनालालजी बजाज के साथ वे स्वतंत्रता आंदोलन तथा रचनात्मक कार्यों में रत रहे।

उनके बड़े पुत्र गौतम का जन्म हम जहां रहते थे, उसी घर में हुआ। बिना किसी प्रकार की औपचारिक शिक्षा ग्रहण किए उसने विनोबाजी के साथ रहने का व्रत लिया। न विवाह किया, न संसार बसाया। ब्रह्मजिज्ञासा में रत आज भी वह पवनार के परंधाम आश्रम में ही रहता है। आचार्य विनोबाजी की जन्मशताब्दी निमित्त उनके संपूर्ण वांगमय का हिंदी में संकलन कर उसे प्रकाशित करने की जिम्मेदारी उसने ली थी। विनोबा-साहित्य पूरा 20 खंडों में संपादित और प्रकाशित करने का हिमालय जैसा काम श्री गौतम ने संपन्न किया तथा विनोबाजी पर एक बड़ा चित्र-दर्शन अलबम भी प्रकाशित किया।

वर्धा बजाजवाड़ी में रहने वाले हम बच्चों ने एक बार यह तय किया कि एक समाज यानी क्लब बनाया जाए। हम सब बच्चे बापूजी के पास गए और उन्हें इस समाज के लिए कोई अच्छा नाम देने के लिए कहा। बापू ने कहा 'दादा के पास जाइए। वे कोई अच्छा-सा नाम रख देंगे। हम लोग दादा के पास पहुंचे।

हमारा कुल व्यवहार, चाल-ढाल तथा बर्ताव देखकर दादा ने कहा, 'घनचक्कर समाज' नाम रखिए।

हमें नाम बहुत अच्छा लगा। हमने बापू को दादा का दिया हुआ नाम बताया। वे दिल खोलकर हंसे। हमने कहा आप ही इस समाज के अध्यक्ष बनें। बापू ने कहा, 'सबसे बड़ा घनचक्कर तो मैं ही हूं। सो मैं अवश्य तुम्हारे समाज का अध्यक्ष बनूंगा।' आचार्य कृपलानी भी वहीं बैठे थे। उन्हें इन सब बातों में बड़ा मजा आ रहा था। उन्होंने उपाध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया! हमारे इस 'घनचक्कर समाज' में शौचालय साफ करने वाले मेहतर के लड़के से लेकर जमनालालजी के पुत्र रामकृष्ण बजाज तक सभी थे। खान अब्दुल गफार खान के सबसे छोटे पुत्र अलीखान, नारायण देसाई, नारायण जाजू आदि अनेक जाने-माने लोग हमारे सदस्य थे। हम सभी धर्माधिकारी भाई तो थे ही।

हमने बापू को दादा का दिया हुआ नाम बताया। वे दिल खोलकर हंसे। हमने कहा आप ही इस समाज के अध्यक्ष बनें। बापू ने कहा, 'सबसे बड़ा घनचक्कर तो मैं ही हूं। सो मैं अवश्य तुम्हारे समाज का अध्यक्ष बनूंगा।' आचार्य कृपलानी भी वहीं बैठे थे। उन्हें इन सब बातों में बड़ा मजा आ रहा था। उन्होंने उपाध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया।

एक बार श्री रमण महर्षि से किसी ने पूछा, 'आपके और गांधीजी के विचार मिलते-जुलते ही हैं। फिर आप उनकी तरह देश भर संचार क्यों नहीं करते? महर्षि का जवाब था, 'मैं चक्की का नीचे का स्थिर पाट हूं, जबकि गांधीजी ऊपर का चलता हुआ पाट हैं। आटा इन दोनों के आपसी सहयोग के कारण ही तैयार होता है। इनका कार्य परस्पर पूरक है।' ध्रुव स्थिर है, इसलिए नाविकों को दिशा दीखती है। अगर सही माने में देखें तो 'घन' का अर्थ है ठोस और 'चक्कर' का अर्थ है 'गतिमान'। चालीस-पचास लड़के इस समाज के सदस्य थे। हमारी यात्रा सदस्यता से संबंधों तक की थी। सदस्यों की उम्र थी दस से बीस तक।

इस समाज के बारे में एक स्थान पर दादा ने लिखा, "संगठन का नाम जितना अनोखा, उतने ही अनोखे थे उसके सदस्य। ये सभी लड़के मैदानी तबीयत के थे। उनके मन में किसी चौहद्दी का विचार ही नहीं था। मानो क्षितिज तक सारा जगत उनका क्रीडांगण हो।" सुप्रसिद्ध साहित्यकार वामनराव चोरघडे ने अपनी 'धर्मकीर्तन' नामक पुस्तक में 'घनचक्कर समाज' का वर्णन करते हुए लिखा, "बजाजवाड़ी के इन बच्चों ने एक नियम लिया था, जो उनके स्वभाव के अनुरूप ही था। नियम था– 'खूब काम करो, खूब खाओ, खूब खेलो।' हर शाम

हमारे खेलने-कूदने और धमाचौकड़ी की आवाज सुनकर सरकार भी चौकन्नी हो गई। उसने बजाजवाड़ी को टेढ़ी नजर से देखना शुरू किया।

खेल लोगों के मनों को जोड़ने का सबसे बड़ा साधन है। इसमें प्रतिस्पर्धी अपना मित्र ही होता है। प्रतिपक्ष को मुकाबला करने के लिए सादर निमंत्रित किया जाता है। जो जीतता है वह तो जीतता ही है, पर जो हारता है वह भी अल्पसफल होता है। वहां पूरी तरह पराजित कोई नहीं होता। 'खेल' दोनों के सहयोग के बगैर हो ही नहीं सकता। खेल में मुकाबला होता है, पर लड़ाई या युद्ध नहीं। इसलिए तो आचार्य विनोबा कहते थे कि 'चुनाव लड़ना' गलत शब्द प्रयोग है। उसके बजाय 'चुनाव खेलना' शब्द प्रयोग होना चाहिए। इसमें केवल शब्दों का भेद नहीं, जनतंत्र को अभिप्रेत मूल्यों का भी भेद है। इसीलिए तो इंग्लैंड में विरोधी पार्टी को भी 'हर मैजेस्टीज ऑपोजिशन' जैसा सार्थक संबोधन दिया गया है।

घनचक्कर समाज में हम खेले, बढ़े– इन सारे मूल्यों को अपने गले लगाकर। हमने यह भी सीखा कि जिंदगी कोई 'रणभूमि' या 'रंगभूमि' नहीं है। वह एक क्रीडास्थान है और अगर उसी भावना से जीया जाए तो सभी क्षेत्रों में खेल-वृत्ति का विकास किया जा सकता है। खेल में तो हम पूरे वर्धा जिले में अव्वल थे। घनचक्कर समाज का सदस्य चाहे जिस स्कूल या कॉलेज में हो, वह उस संस्था की टीम में रहता ही था। क्रिकेट, हॉकी, फुटबॉल वॉलीबॉल, खो-खो, कबड्डी में हमारी टीम शर्तिया जीतती थी। जमनालालजी ने हमें खेल की सारी सुविधाएं उपलब्ध करा दी थीं। उन्होंने एक छोटा-सा क्लब हाउस भी बना दिया था।

लड़के-लड़कियों के बर्ताव में, खेल में मैदानी खुलेपन के साथ-साथ संयम भी था। स्त्री-पुरुष समता भरपूर थी। हमें गालियों का व्याकरण कभी समझ में आया ही नहीं। आपस में झगड़े होते थे, पर गालियों का प्रयोग कभी नहीं होता था। बहुत गुस्सा आया और गालियां देने का मन हुआ तो क्या करें? इस पर दादा ने तो एक उपाय सुझाया था। आपस में गालियों का लेन-देन न हो सके ऐसा शब्द प्रयोग उन्होंने हमें सिखाया।

एक-दूसरे को चिढ़ाने के लिए हम लोग पुराणों के देव-दानवों के नामों का उपयोग करते थे। 'तुम नालायक हो' के साथ-साथ कभी रावण, सुग्रीव, विभीषण आदि भी उपयोग कर लेते। कभी चंद्र, सूर्य इत्यादि ग्रह भी आ जाते। आवाज से पता चलता कि वह गुस्से में है या गाली का प्रयोग करना चाहता है। पर कभी किसी ने अश्लील शब्दों या अपशब्दों का प्रयोग किया हो, ऐसा याद नहीं आता। दादा ने तो हमें यह भी सिखाया था कि गाली एक ढंग की अहिंसक हिंसा है।

सामने वाले को वह दुख पहुंचाती है, जख्मी भी करती है।

घनचक्कर समाज हर साल गणेशोत्सव मनाया करता था। देश के गणमान्य नेता भाषण देने के लिए हमारे मंच पर आते थे। दादा के भाषण बहुत असरदार होते थे। उनके भाषणों के विषय भी अनोखे होते थे। उदाहरण देखेंः घनचक्कर कैसे? हिंदुस्तान गधों का, नहीं किसी के बाप का– ऐसे विषयों के उनके वे भाषण मुझे याद हैं। जमनालालजी ने अपनी डायरी में इन गणेशोत्सवों का और वहां के कार्यक्रमों का जिक्र किया है। अगस्त 1938 की डायरी में एक पृष्ठ पर उन्होंने लिखाः 29.8.1938 रात में घनचक्कर क्लब में दादा का सुंदर व्याख्यान हुआ। 30.8.1938 घनचक्कर क्लब में एक बांसुरी बजाने वाला नागपुर से आया था। उसने बांसुरी अच्छी बजाई। 31.08.1938 राजेन्द्र बाबू का घनचक्कर क्लब में व्याख्यान। 1.9.1938 घनचक्कर क्लब में कृपलानी और डॉ. चोइथमराम के भाषण और बातचीत। मैं सभापति बना।

ये टिप्पणियां नमूने के तौर पर दी हैं। उससे यह ध्यान में आता है कि कितने ज्येष्ठ-श्रेष्ठ लोग हमारे गणेशोत्सव में सहभागी होते थे।

मुझे और एक कार्यक्रम का खास स्मरण है। वह था नागपुर के श्री माहुरकर के 'अ-चाट' शक्ति प्रयोग का। अचाट यानी अद्‌भुत, असाधारण। विज्ञापन में 'अ' अलग तथा 'चाट' शब्द अलग लिखा था। उस प्रयोग का स्वरूप ही कुछ मजाकिया तथा मनोरंजक था। उन्होंने ऐलान किया वे अब सेर के, शेर के मुंह में हाथ डालने का प्रयोग करेंगे। दर्शक बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। तब अनाज मापने के लिए जो सेर (पात्र, पयाली या डिब्बा) होता है, उसमें ऊपर से हाथ डालकर उन्होंने कहा, 'देखा मैंने सेर के मुंह में हाथ डाला'। दूसरा प्रयोग था, 'पहाड़ उठाना' उन्होंने एक कागज पर बड़े अक्षर में 'ड' लिखा और लोगों से कहा, पहा (देखो) मैंने 'ड' उठाया। लोग इन 'अ-चाट (अद्‌भुत) प्रयोगों को देखकर जरा बौखला गए। उन्हें लगा हमें तो घनचक्कर बनाया जा रहा है! वे मंच की ओर लपके। फिर बताने की जरूरत नहीं कि घनचक्कर समाज के हम सभी सदस्य और श्री माहुरकर पिछले दरवाजे से नौ-दो ग्यारह हो गए थे! शुरुआत में हम लोग केवल खेल के लिए इकट्‌ठा होते थे। वर्धा के और खासकर बजाजवाड़ी के वातावरण के कारण हम धीरे-धीरे सामाजिक कार्यों में भी शरीक होते गए।

घनचक्कर समाज के सदस्यों का व्रतबंध वगैरा पर विश्वास नहीं था। जिन त्यौहारों पर ब्राह्मण भोजन किया जाता, उन त्यौहारों पर शौचालय साफ करने वाले पैकू भोजन के लिए निमंत्रित किए जाते। उन्हें बहनोई का दर्जा प्राप्त होता। उनकी पत्नी सुहागन मानी जाती। आखिरी बना दिए गए आदमी के साथ जीना

अंत्योदय का मर्म है। वही उसका अधिष्ठान है। यह सब बिना किसी के सिखाए हम लोग सीखते गए। इसलिए किसी विशिष्ट जाति के लिए आवश्यक कोई भी संस्कार सामान्यतः हमारे जीवन में प्रवेश कर न सका। इतना ही नहीं, जिन मंदिरों में कुछ का प्रवेश निषिद्ध था, हम उन मंदिरों में कभी देव-दर्शन के लिए गए नहीं। जो ईश्वर सबका नहीं, वह हमारा भी नहीं।

सन् 1935 में वर्धा आने के बाद उस बाल-वय में मुझे गांधीजी को देखने की उत्कट इच्छा थी। जिसके राज्य में कभी सूरज ढलता नहीं था, उस साम्राज्य से लड़ने वाला सूरमा आखिर कैसा है। उसे जानने की तीव्र उत्कंठा थी। गांधीजी अगर एक साम्राज्य से लड़ते हैं तो वे कम-से-कम गामा पहलवान जैसे जरूर होंगे, ऐसा मेरा बाल-मन सोचता था। हमारे सारे नेता यह तो कबूल करते थे कि अंग्रेजों के राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता था, पर उसका कारण वे अलग बतातेः 'सूरज को लगता था कि दिनदहाड़े आकाश में उसके रहते भी जो अंग्रेज इतने अत्याचार और अन्याय कर सकते हैं, वे रात के अंधेरे में पता नहीं क्या और कितने अत्याचार करेंगे? इस डर से सूरज अस्त होने की हिम्मत ही नहीं करता था!

सन् 1935 में वर्धा आने के बाद उस बाल-वय में मुझे गांधीजी को देखने की उत्कट इच्छा थी। जिसके राज्य में कभी सूरज ढलता नहीं था, उस साम्राज्य से लड़ने वाला सूरमा आखिर कैसा है। उसे जानने की तीव्र उत्कंठा थी। गांधीजी अगर एक साम्राज्य से लड़ते हैं तो वे कम-से-कम गामा पहलवान जैसे जरूर होंगे, ऐसा मेरा बाल-मन सोचता था!

मुझमें गांधीजी को देखने की उत्सुकता कायम थी। मैंने पहले उन्हें कभी देखा नहीं था। इसलिए वर्धा पहुंचते ही गांधीजी को देखने सेवाग्राम गया। शरीर से सर्वथा कृश परंतु चेहरे पर दिव्य प्रभा वाले एक बूढ़े व्यक्ति का दर्शन मुझे करवाया गया। उस दिन सेवाग्राम में देश के कई बड़े-बड़े नेता किसी बैठक के लिए आए थे। उनमें से कोई चक्की पीस रहा था, कोई साफ-सफाई में लगा था तो कोई रसोईघर में सब्जी काटने या रसोई बनाने में व्यस्त था। बेहद अचरज हुआ। लगा महात्मा गांधी का माथा ठिकाने पर है भी या नहीं? मैंने आश्रम के एक ज्येष्ठ व्यक्ति से पूछा, 'इतने बड़े नेताओं से आप रसोई घर में सब्जी कटवाने का काम करवाते हैं? जवाब में उन्होंने कहा, क्या तुम्हें सब्जी अच्छी नहीं लगती? मैंने कहा, 'बिना सब्जी के तो भोजन ही नहीं होता।' तब उस आश्रमवासी ने मुझसे पूछा, जो चीज खाने में शर्म नहीं, उसे काटने में शर्म क्यों आनी चाहिए? अगर शरीरश्रम की प्रतिष्ठा न हो तो 'बेश्रम' या बेशरम' प्रतिष्ठा का बोलबाला होता जाता है।

इन सारी बातों का परिणाम यह हुआ कि खेलने से पहले घनचक्कर समाज के हम सारे सदस्य आधा घंटा तकली पर सूत कातने लगे थे। सभी सदस्य खादी के कपड़े पहनते थे ऐसी बात नहीं। किसी पर जोर जबरदस्ती न की जाए यह तय था। घर की परिस्थिति के कारण कुछ के लिए यह संभव नहीं था। कुछ सदस्य बजाजवाड़ी के बाहर, वर्धा गांव के थे। ऐसे बंधन अगर स्वेच्छा से स्वीकृत किए जाते हैं तभी उनमें शक्ति पैदा होती है। जोरजुल्म का नमस्कार ईश्वर तक भी नहीं पहुंचता।

हम लोग तो जन्म से ही खादीधारी थे। मन पर स्वदेशी का संस्कार था। सारा वातावरण तब स्वदेशी वृत्ति से प्रभावित था। इसलिए हमने कभी परदेसी चीजों का उपयोग नहीं किया। दीपावली के दिनों में कभी पटाखे तक न उड़ाए क्योंकि वे भी तब परदेश में तैयार होते थे। आश्रम और बजाजवाड़ी के लोग कागजों को वबूल के कांटों से नत्थी करते थे, क्योंकि तब आलपिन तक परदेश से आती थी।

हम लोग वर्धा के पास 'म्हसाळा' नामक देहात में रात को साक्षरता की क्लास चलाते थे। अपनी खुद की सायकिल, कंदील और स्लेट-पेंसिल लेकर हम लोग रोज देहात में जाकर लोगों को पढ़ाते। उस क्लास में छोटे-बड़े सभी होते थे। आज की तरह तब भी बड़ों की यह मान्यता थी कि इन कच्चों-बच्चों से भला क्या सीखना? पढ़कर वे मानो हम पर उपकार ही करते थे। अगर पढ़ाई करते-करते हम लोग उन्हें उनकी गलतियां बताते तो उन्हें यह ठीक नहीं लगता था।

'पढ़ोगे-लिखेगे बनोगे खराब, खेलोगे-कूदोगे बनोगे नवाब! ऐसा कहकर इन सबकी खिल्ली उड़ाने वाला एक जमींदार वर्ग भी था। लोगों को निरक्षर रखने में जिनका स्वार्थ था, ऐसे लोग भी थे। वे सरकार को 'गांधी के ये लोग गांव के लोगों को भड़काते हैं' ऐसी शिकायत करने से बाज नहीं आते थे। फिर भी सब कुछ सहकर हम लोग अपनी क्लास चलाते रहे। साक्षरता के साथ-साथ लोगों का जीवन सार्थक बने, इसलिए उन्हें कताई भी सिखाते थे, डांटते भी थे। इस सबसे मानो एक प्रतिशोध लेने का सुख भी मिलता। हम भी किसी के 'मास्टर' हैं– इसका आनंद होता था।

चौरासी बरस के न्यायमूर्ति चंद्रशेखर धर्माधिकारी बंबई उच्च न्यायायालय में कार्यकारी मुख्य न्यायाधीश रहे हैं। सन् 1989 में वे निवृत्ति के बाद सेवा की दूसरी धारा में संलग्न हुए हैं। सचमुच बचपन से ही आजादी की लड़ाई में शामिल होने वाले दादा अब इस आजादी को सार्थक बनाने वाली अनेक प्रवृत्तियों और संस्थाओं का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

मनसंपर्क का कंप्यूटर उबुंटू

सोपान जोशी

धूप से तपते हमारे जीवन के रास्ते में गांधीजी एक घने पेड़ हैं। उनकी छाया में कोई भी शरण ले सकता है। तरह-तरह के लोग गांधीजी को अपनी प्रेरणा बताते हैं फिर चाहे उन्होंने किसी तरह की हिंसा और धोखे से करोड़ों की संपत्ति जुटाई हो। ऐसे लोगों की कहानियां संचार की दुनिया में अटी मिलेंगी क्योंकि ये लोग अपनी हिंसा, धोखाधड़ी पर लीपापोती करने के लिए पहले तो लोगों को भाड़े पर रखते थे। और अब तो इस काम को खूब व्यवस्थित ढंग से करने वाली बड़ी-बड़ी जनसंपर्क कंपनियां ही बन गई हैं। जीते जी तो ठीक, ऐसे लोग जब संसार छोड़ जाते हैं तब भी उनके नाम पर बड़ी-बड़ी संस्थाएं खड़ी हो जाती हैं। मरने के बाद संस्थाओं के नाम उन पर रखे जाते हैं। विश्व शांति के लिए सबसे बड़ा माना गया पुरस्कार विध्वंसक हथियार बनाने और बेचने वाले अलफ्रेड नोबेल के नाम से दिया जाता है जिन्होंने डायनामाइट ईजाद किया और बोफोर्स नाम की कंपनी को इस्पात की बजाए तोप बनाने में लगा दिया था। अगर गांधीजी को ये पुरस्कार मिलता तो?

फिर ऐसे भी लोग मिलेंगे जो कहीं से भी गांधीवादी नहीं कहे जा सकते लेकिन जिनके जीवन और काम, मूल्य और भावना में वही गंध होगी जो गांधीजी के जीवन और काम में थी। ऐसे लोग आसानी से दिखाई नहीं पड़ते क्योंकि हमारी संवेदनाएं संचार माध्यम और उनके विशेषणों से कुंद हो चली हैं। और जो सही में अच्छा काम करते हैं वो जनसंपर्क की बजाए मनसंपर्क में विश्वास रखते हैं। मनसंपर्क के लिए कोई सरकारी विभाग नहीं होता और न इसे किसी कॉलेज में सिखाया जाता है। अगर आप किसी का मन प्रेम से छू लें तो उसका कोई सर्टिफिकेट नहीं मिलता। मनसंपर्क अपने आप ही अपना पुरस्कार है।

जनसंपर्क और मनसंपर्क का ये अंतर साफ दिखेगा कंप्यूटर की दुनिया में।

ये दुनिया नई है, हमारे यहां तो बहुत ही नई। इतनी की अभी हमारी भाषा को समय नहीं मिल पाया है इससे जान-पहचान बनाने का कि वह इस नई दुनिया के लिए कुछ सरल, संस्कारी संज्ञाएं और नई क्रियाएं गढ़ सके। इस दुनिया की बातचीत अभी तो बहुत असहज शब्दों में ही होती है। इसके बावजूद हमारे समाज का एक हिस्सा इस दुनिया में ही विचरता है। कई लोगों का काम आज कल कंप्यूटर के बिना नहीं चलता। बहुत से ऐसे भी हैं जो खुद चाहे कंप्यूटर का इस्तेमाल न करते हों पर उनका काम किसी और के कंप्यूटर पर निर्भर रहता है। कई लोगों को कंप्यूटर बस एक जंजाल लगता है और जबरन सीखना पड़ता है। फिर कुछ ऐसे भी हैं जिनका सूरज उगता नहीं है, जब तक फेसबुक पर अपनी टुच्ची भावनाओं का प्रसार न कर लें और पूरे जगत को फोटो के साथ यह बता न दें कि उन्होंने आज कलेवे में क्या खाया!

हमारे समाज के इस हिस्से को जानने के लिए हमें कुछ अटपटे शब्दों को समझना पड़ेगा। मशीन और उसके पुर्जे और उसकी इंजीनियरी को छोड़ दें अभी, जैसे सॉफ्टरवेयर प्रोग्राम। ये गणित की अंक मालाएं हैं, जिन्हें कुछ ऐसे पिरोया जाता है कि ये मशीन चलाने वाले की आज्ञा जैसा काम कर सकें। जैसे बढ़ई मेज में दराज ऐसे बनाता है कि खींचने पर वो बाहर आ जाए और धकाने पर भीतर चली जाए। दराज खोलिए। जो रखना है रखिए और काम होने पर उसे बंद कर दीजिए। जो काम मेज पर कागज रखकर होता है या तख्ती को गोंद में रख कर होता है, वैसे ही कंप्यूटर के डिसप्ले पर हो जाता है। इसलिए उसे भी डेस्कटॉप या फिर लैपटॉप ही कहते हैं।

एक और शब्द है औपरेटिंग सिस्टम या 'ओएस'। अगर कंप्यूटर की मशीन को हम रेलगाड़ी मान लें तो ओएस वो पटरी है जो हमें दिखती नहीं है क्योंकि हम उसके ऊपर चल रहे हैं। कंप्यूटर की गाड़ी वहीं जा सकती है जहां तक ओएस उसे ले जाए। यानी पटरी बिछी है। जिस ओएस पर आप चलेंगे उस पर उसी तरह के पड़ाव आएंगे जो ओएस बनाते समय तय हुए हैं। लखनऊ से पटना के रास्ते में चाहकर भी हैदराबाद नहीं आने वाला!

इस नए और असहज संसार के भीतर अगर ठीक से झांक कर देखें तो उठाईगिरी का साम्राज्य दिखाई देगा। हमारे यहां ज्यादातर कंप्यूटरों के भीतर चोरी के सॉफ्टवेयर चलते हैं। कुछ तो दुकानदार ही डाल देते हैं और कुछ इंटरनेट से डाउनलोड करके इस्तेमाल होते हैं। कम ही लोग सारे सॉफ्टवेयर पैसा देकर खरीदते हैं। सबसे ज्यादा कंप्यूटर माइक्रोसॉफ्ट कंपनी के 'विंडोज' ओएस पर चलते हैं। इसे किसी भी मशीन में डाला जा सकता है। खासकर उन मशीनों में भी जिन्हें सस्ते पुर्जे थोक में खरीद कर जुगाड़ कर बनाया जाता है। जो ज्यादा

खर्च करने को राजी हो वो ऐपल जैसी कंपनी के बहुत ही लुभावने दिखने वाले कंप्यूटर लेते हैं जिनका ओएस भी ऐपल ही बनाता है।

इस तरह कंप्यूटर की दुनिया के ये दो सबसे प्रसिद्ध नाम हैंः माइक्रोसॉफ्ट और ऐपल। जाहिर है इनके मालिक भी प्रसिद्ध ही होंगे।

माईक्रोसॉफ्ट के श्री बिल गेट्स कई साल दुनिया के सबसे अमीर आदमी माने जाते थे और आजकल गरीब देशों की भलाई में करोड़ों डॉलर दान में दिए हुए हैं जैसे भारत में। ऐपल के श्री स्टीव जोब्स का हाल ही में निधन हुआ। पूरी दुनिया उनके कदम चूम रही थी, उन्हें युग पुरुष का दर्जा देती दिखी थी। उन्हें व्यापार की दुनिया का सबसे शक्तिशाली आदमी कहा गया हमारे युग का महानतम आविष्कारक भी। शेयर मार्केट में ऐपल की कीमत भारत के कुल आर्थिक उत्पाद का 30 प्रतिशत आंकी जाती है। ऐसा बताया जाता है कि ऐपल के बैंक खातों में अमेरिका की सरकार से ज्यादा धन जमा है। अगर ऐपल अपने आप में एक देश होता तो उसकी अर्थव्यवस्था दुनिया में 59 पर होती।

कंप्यूटर को घर-घर पहुंचाने में गेट्स और जोब्स का योगदान विशेष माना जाता है। पर इनकी अपार धनदौलत के पीछे भी चोरी और छीनाझपटी की ही कहानी है। जिन कंप्यूटरों में असली ओएस और सॉफ्टवेयर बाकायदा रुपया खर्च करके डाले होते हैं वो भी नकल की, चोरी की दुनिया से ही निकले हैं। इसे समझने के लिए हमें 35 साल पीछे जाना पड़ेगा।

तब के शुरुआती कंप्यूटर आकार में बहुत बड़े और आम लोगों के लिए तो बेकार ही थे। केवल विज्ञान और गणित में शोध करने वाले ही इनका इस्तेमाल करना जानते थे और कंप्यूटर उन्हीं की जरूरत भी पूरी करता था। उतनी पढ़ाई के बिना कोई कंप्यूटर चला भी नहीं सकता था क्योंकि उसे चलाने के लिए जटिल कंप्यूटरी भाषाएं, सॉफ्टवेयर कोड जानने की जरूरत होती थी। इसलिए फिर होड़ हुई ऐसे कंप्यूटर बनाने की, जो जन-जन के काम आए। जिसे खरीदने के लिए आम लोग भी कुछ खर्च को तैयार हो जाएं। जवाब केवल एक कंपनी के पास था और उसका नाम था जेरॉक्स। जी हां जिसे हम आज बस केवल फोटोकॉपी की मशीन के लिए भर जानते हैं।

जेरॉक्स के इंजीनियरों ने एक ऐसा कंप्यूटर बना लिया था जिसे चलाने के लिए अब सॉफ्टवेयर की जटिल भाषा आना जरूरी नहीं था। किताब से रटे हुए कोड नहीं उगलने पड़ते थे। सामने के स्क्रीन पर दुर्गम कंप्यूटर भाषा के कोड नहीं आते थे। एक जीवंत कॅनवास आता था और उस पर सॉफ्टवेयर प्रोग्राम के सरल से चित्र बने हुए थे। एक चूहे-सी दिखने वाली छोटी-सी डिब्बी एक तार के जरिए कंप्यूटर से जुड़ी थी। उसकी पीठ पर दो बटन थे। इसे यहां-वहां हिलाने

घुमाने से स्क्रीन पर एक बिंदु चलता था। जिस चित्र पर उस बिंदु को लाकर बटन दबाया नहीं कि वह काम, प्रोग्राम शुरु हो जाता था।

जिन वैज्ञानिकों ने यह सब बनाया था उन्हें सन् 1978 में एक बड़ा झटका लगा। उनके मालिकों ने ऐपल कंपनी में कुछ शेयर खरीदने के बदले ऐपल के इंजीनियरों को उनकी बनाई मशीनें देखने का अधिकार दे दिया। जेरॉक्स का शोध, उनकी मशीनें देखने के बाद ऐपल की दिशा बदल गई और उसने जेरॉक्स की देखादेखी इन चित्रों में काम शुरु किया। फिर ऐपल ने जेरॉक्स के वैज्ञानिकों को ज्यादा वेतन दिखा कर खींच लिया। सन् 1984 में ऐपल का मैकिंतोश कंप्यूटर बाजार में आया जो जेरॉक्स के आविष्कारों की तर्ज पर बना था। स्टीव जोब्स ने कई बार कहा है कि उन्हें दूसरों का बढ़िया विचार और अविष्कार चुराने में कभी शर्म नहीं आई। उन्होंने यह भी कहा था कि अच्छे कलाकार नकल करते हैं जबकि महान कलाकार चुराते हैं।

इस नए और असहज संसार के भीतर अगर ठीक से झांक कर देखें तो उठाईगिरी का साम्राज्य दिखाई देगा। हमारे यहां ज्यादातर कंप्यूटरों के भीतर चोरी के सॉफ्टवेयर चलते हैं। कुछ तो दुकानदार ही डाल देते हैं और कुछ इंटरनेट से डाउनलोड करके इस्तेमाल होते हैं। कम ही लोग सारे सॉफ्टवेयर पैसा देकर खरीदते हैं।

इसका परिणाम उन्हें सन् 1984 में ही भुगताना पड़ा। उन्होंने जेरॉक्स की तर्ज पर बनाई अपनी मशीनें माइक्रोसॉफ्ट के बिल गेट्स को भरोसे में और एक अनुबंध के तहत दी थीं। उनके कंप्यूटर के बाजार में आने के पहले माइक्रोसॉफ्ट ने अपना विंडोज ओएस जारी कर दिया। ये ऐपल की नकल से बना था। चोर के घर में सेंध लग गयी थी। यहां से बिल गेट्स और माईक्रोसॉफ्ट का साम्राज्य बढ़ता ही चला गया। सन् 1988 में ऐपल ने उन पर पेटेंट की चोरी का आरोप लगाया और मुकदमा किया। जब मामला अमेरिका के उच्चतम न्यायालय में पहुंचा तो जेरॉक्स ने ऐपल पर चोरी का मुकदमा कर दिया। न्याय मिला चोर को! दोनों मुकदमों में चोरी करने वाले की जीत हुई।

बिल गेट्स ने सन् 1976 में कंप्यूटर पर काम करने वालों के लिए एक खुला पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने सॉफ्टवेयर की चोरी को अनैतिक और खतरनाक ठहराया था क्योंकि इससे आविष्कार करने वाले के अधिकार की हानि होती है। नैतिकता का पाठ पढ़ाने की माइक्रोसॉफ्ट की कहानी और भी विचित्र है। सन् 1980 में कंपनी ने 50,000 डॉलर खर्च कर एक ओएस खरीदा और उस पर अपना नाम लिखकर अगले दिन आईबीएम कंपनी को बेच दिया। तब आईबीएम

कंप्यूटर बेचने वाली सबसे बड़ी कंपनी थी। इस बिक्री से माइक्रोसॉफ्ट ज्यादातर कंप्यूटरों का ओएस बन गया। पर आज तक ये सभी कंपनियां एक दूसरे पर पेटेंट चुराने के आरोप और मुकदमें करती रहती हैं। सन् 1998 में खुद अमेरिका की सरकार ने इस कंपनी पर अभियोग चलाया बेईमानी और धोखाधड़ी से अपने विभिन्न प्रतियोगियों को दबाने का। आरोप था एकाधिकार का दुरुपयोग। माइक्रोसॉफ्ट को पता था कि कंप्यूटर बनाने वाली कंपनियां उसकी मोहताज थीं इसलिए वो उनको कोई भी और ओएस डाल कर कंप्यूटर बेचने से रोकता था। फिर ओएस के एकाधिकार की वजह से दूसरे सॉफ्टवेयर बनाने वालों के सामान भी इन मशीनों में नहीं लगाए जाते थे।

फैसला सुनाते हुए एक न्यायाधीश ने कहा था कि माइक्रोसॉफ्ट के अधिकारियों ने बार-बार गलत और भ्रमित करने वाली जानकारी न्यायालय को दी और यह कंपनी एकदम साफ तौर पर झूठी साबित हुई है। उन्होंने कहा कि इस कंपनी के ढांचे में ही सत्य और न्यायप्रियता के लिए नफरत भरी पड़ी है। कंपनी के शीर्ष अधिकारियों को धोखेबाजी से जरा भी परहेज नहीं है। अपने झूठे बयानों को छुपाने के लिए और अपने अपराधों पर पर्दा डालने के लिए यह कुछ भी कर सकती है। लेकिन फिर यह मामला अपील में जाकर कमजोर पड़ गया और कंपनी बहुत ही सस्ते में छूट गई। असत्य पर खड़ी कंपनी को टिकाए रखने के लिए वकीलों की एक पूरी फौज हमेशा तैयार रखी जाती है। इस कंपनी के वकीलों की चांदी ही चांदी है। माइक्रोसॉफ्ट कंपनी के कानूनी विभाग का तीन साल का खर्च 430 करोड़ डॉलर था। यानी कोई 21,500 करोड़ रुपए। इसमें 30 करोड़ डॉलर वकीलों के फीस थी और 400 करोड़ डॉलर मुआवजे में दी गई रकम थी।

कुछ साल पहले बिल गेट्स ने माइक्रोसॉफ्ट का शासन छोड़ दिया और आजकल वे गरीब देशों की भलाई के काम में जुटे हुए हैं। उनके नाम से बिल एंड मेलिंडा गेट्स फाउंडेशन भी है जो गैरसरकारी संस्थाओं को करोड़ों रुपए अनुदान में देती है। अपने अनेक भाषणों में वे गांधीजी की प्रेरणा का जिक्र कर चुके हैं। स्टीव जोब्स बौद्ध धर्म का पालन करते थे और अपने आप को तरुणाई से ही अध्यात्मिक बताते थे। ऐपल के एक प्रसिद्ध विज्ञापन में गांधीजी भी दिखाए जाते थे। अनूठे और कालजयी विचारों वाले लोगों के फोटो के साथ ऐपल का संदेश आता था– 'थिंक डिफरेंट'। दोनों ने धोखाधड़ी और चोरी से अरबों रुपए बनाए हैं। दोनों की कंपनियों ने हिंसा का उपयोग किया। कानूनी कार्यवाही या उसकी धमकी भी तो एक तरह की हिंसा ही है। कई छोटे-मोटे व्यक्तियों और कंपनियों के खिलाफ माइक्रोसॉफ्ट और ऐपल ने मुकदमें चलाए और उनको तरह-तरह से सताया। माइक्रोसॉफ्ट के दफ्तर में एक ऐसी ब्लैक लिस्ट भी हुआ

करती थी उन पत्रकारों की, जो उसकी कारगुजारियों पर खुल कर लिखते थे। उन्हें परेशान भी किया जाता था।

छोड़िए इन बातों को। इनके बनाए हुए औजार तो देखिए। अगर आप माइक्रोसॉफ्ट के ओएस इस्तेमाल करते हैं तो आपको हमेशा कंप्यूटर वायरस का खतरा रहेगा जो कुछ ही पलों में आपका वर्षों का काम तमाम कर सकते हैं। इससे बचने के लिए आपको फिर मंहगे एंटीवायरस सॉफ्टवेयर खरीदने पड़ेंगे। इनको चलाने से आपका कंप्यूटर धीमा चलने लगेगा। कंप्यूटर की दुनिया के लोग आपको बताएंगे कि माइक्रोसॉफ्ट के विंडोज ओएस में कई खामियां हैं और आए दिन नई खामियां पता चलती रहती हैं। लेकिन व्यापार की दुनिया उनसे चमत्कृत रहती है, इसलिए उन्हीं का बोलबाला है।

ऐपल के कंप्यूटर इसकी तुलना में कहीं बेहतर होते हैं पर ये हैं बहुत मंहगे। उनमें बस केवल ऐपल के ही पुर्जे लग सकते हैं और हर पुर्जे का दाम बाजार के दाम से दुगुना-तिगुना होता है। अगर आप हिंदी जैसी किसी यूरोप से बाहर की भाषा में काम करना चाहते हैं तो आपको कई तरह की परेशानी आनी तय हैं। जैसे कि फौंट का नहीं मिलना तो तय ही है। इससे स्क्रीन पर अक्षर टूटे-फूटे दिखते हैं। ये सब इसलिए कि इन कंपनियों को हिंदी में अभी मुनाफा नहीं दिखता। ऐसी भावना नहीं है कि कोई और जो हिंदी में काम करना चाहता हो, इनको सॉफ्टवेयर बना कर दे दे। ये कंपनियां अपने सॉफ्टवेयर की कुंजी, कोड्स किसी को बताती नहीं हैं क्योंकि उस पर इनका मालिकाना हक है। फिर चाहे वो चोरी का ही क्यों न हो! इनकी बात ज्यादा इसलिए होती है क्योंकि प्रेस और मीडिया में इनकी धन दौलत का दबदबा ज्यादा है और इनकी पैरवी करने के लिए बड़ी-बड़ी जनसंपर्क एजेंसियां खड़ी रहती हैं।

ये सभी कंपनियां एक दूसरे पर पेटेंट चुराने के आरोप और मुकदमें करती रहती हैं। सन् 1998 में खुद अमेरिका की सरकार ने इस कंपनी पर अभियोग चलाया बेईमानी और धोखाधड़ी से अपने विभिन्न प्रतियोगियों को दबाने का। आरोप था एकाधिकार का दुरुपयोग।

पर कंप्यूटर की सारी दुनिया सिर्फ ऐसे ही लोगों से बनी हो, ऐसा नहीं है। उसमें कई ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपनी मेहनत और कल्पना से चीजें बनाईं और उन्हें बिना मुनाफा कमाए समाज के सामने रख दिया। यही नहीं, उन्होंने अपने बनाए सॉफ्टवेयर की कुंजी सबके सामने रख दी, जिससे जो भी चाहे उसकी नकल करके ले जाए और उसे बिना मुनाफे के और आगे बढ़ाए। इन लोगों पर

अमेरिका के धनतंत्र में साम्यवादी होने का आरोप लगाया गया। इनका जवाब एक बहुत सीधा-सा सवाल थाः क्या पड़ोसी की मदद करना कार्ल मार्क्स का आविष्कार था?

इस सामाजिक दुनिया के शिखर पर एक ही नाम हैः रिचर्ड स्टॉलमैन। अगर किसी को जानना हो कि गांधीजी कंप्यूटर की दुनिया को कैसे देखते तो स्टॉलमैन का जीवन देखना चाहिए। सन् 1971 में ऐसी मशीनें बनाने की कोशिश हो रही थी जो विचारपूर्ण काम कर सकें। इस शोध कार्यक्रम में स्टॉलमैन सॉफ्टवेयर बनाते थे। उन्हें ये गलत लगता था कि सरकारी अनुदान से बनने वाले सॉफ्टवेयर पर काम करने के लिए खुफिया कुंजीनुमा 'पासवर्ड' हों। तो चुपके से स्टॉलमैन पासवर्ड तोड़ देते, ताले खोल देते और बिना ताले की संस्कृति की बात करते हुए इन बातों की कुंजियां बांट देते।

जिस प्रयोगशाला में वो काम करते थे, उसमें इस्तेमाल होने वाले सॉफ्टवेयर को वो आम तौर पर खोल कर अपने और औरों के इस्तेमाल के लिए और भी बेहतर बना लेते थे। जैसे उन्होंने एक कंपनी के प्रिंटिंग सॉफ्टवेयर को खोलकर बदल दिया था ताकि दफ्तर के लोगों को पता चल जाए कि उन्होंने जो दस्तावेज छपने भेजा है वो कब छप चुका है जिससे अलग-अलग मंजिलों पर काम करने वाले उनके सहयोगियों का समय बचता था। पर सन् 1980 में एक नया प्रिंटर लगने पर स्टॉलमैन को उसके चलाने वाले सोर्स कोड नहीं दिए गए। इससे उनके सहयोगियों की परेशानी बढ़ गई। वो कहते हैं कि जब वो स्कूल जाते थे तब उन्हें सिखया गया था कि अगर कुछ खाओ तो आसपास वालों के साथ बांट कर खाना चाहिए। इसी वातावरण में वो बड़े हुए थे और हमेशा इसी भावना से उन्होंने अपना काम किया था।

पर कंप्यूटर का बाजार बढ़ने के साथ ही सोर्स कोर्ड छुपा कर रखने का काम शुरु हो गया था। उद्देश्य लोगों को सुविधा देना नहीं, ज्यादा पैसा कमाना हो गया था। पर यह स्टॉलमैन को मंजूर नहीं था। उन्हें लगता था कि कंप्यूटर इस्तेमाल करने वाले के पास यह अधिकार तो होना ही चाहिए कि वो कंप्यूटर का सॉफ्टवेयर अपनी जरूरत के हिसाब से बदल ले और अपने प्रियजनों के साथ उसे बांट सके। फिर चाहे वो सॉफ्टवेयर उसे मुफ्त में मिला हो या पैसा देकर खरीदा हो। अगर कंप्यूटर हमारी अभिव्यक्ति का एक जरिया है तो उसमें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। सामाजिकता और अभिव्यक्ति की आजादी सॉफ्टवेयर बनाने वाले के व्यापारिक और मालिकाना अधिकार से बड़े मूल्य हैं। ये हमारी सभ्यता की नींव हैं– ऐसा स्टॉलमैन मानते थे।

तो जिस समय बिल गेट्स और स्टीव जॉब्स अपने-अपने तालाबंद साम्राज्यों

की नींव रख रहे थे तब स्टॉलमैन ने घोषणा की कि वो एक खुले सोर्स कोर्ड का ओएस बनाएंगे, जिसे जो चाहे अपने हिसाब से बदल सके। उसका नाम रखा 'ग्नू'। अगले साल उन्होंने अमेरिका की सबसे विख्यात तकनीकी प्रयोगशाला से अपनी नौकरी छोड़ दी ताकि उन्हें समय मिल सके, अपना काम पूरा करने के लिए। एक साल के भीतर उन्होंने ग्नू घोषणापत्र लिख दिया।

स्टॉलमैन चाहते थे कि उनका काम लोग आजादी से मिल बांट कर इस्तेमाल करें पर ये नहीं चाहते थे कि कोई भी उन बदलावों पर एकाधिकार बनाए। इसलिए उन्होंने एक नई तरह का कॉपीराईट बनाया जिसे अब कॉपीलेफ्ट कहा जाता है। इसका नाम था ग्नू जनरल पब्लिक लाइसेंस। इसकी एक ही खास शर्त थीः इस लाइसेंस में जारी किए काम को आगे इसी लाइसेंस में बढ़ाया जा सकता था। मतलब कोई भी स्टॉलमैन के काम का खुला उपयोग कर सकता था बशर्ते उनका काम भी खुले उपयोग के लिए हो। इसके साथ ही उन्होंने फ्री सॉफ्टवेयर फाउंडेशन नामक संस्था बनाई। वो हमेशा कहते हैं कि फ्री से उनका माने मुफ्त नहीं है बल्कि मुक्त है। एकाधिकार से मुक्त। बांटने के लिए मुक्त। कमाने के लिए भी मुक्त पर दूसरों की आजादी की कीमत पर नहीं।।

पर कंप्यूटर की सारी दुनिया सिर्फ ऐसे ही लोगों से बनी हो, ऐसा नहीं है। उसमें कई ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपनी मेहनत और कल्पना से चीजें बनाईं और उन्हें बिना मुनाफा कमाए समाज के सामने रख दिया। यही नहीं, उन्होंने अपने बनाए सॉफ्टवेयर की कुंजी सबके सामने रख दी, जिससे जो भी चाहे उसकी नकल करके ले जाए और उसे बिना मुनाफे के और आगे बढ़ाए।

अगले छह साल में ग्नू का काम बहुत तेजी से हुआ। स्टॉलमैन जब भी कोई सॉफ्टवेयर बनाते उसके सोर्स कोड भी साथ दे देते। दुनिया भर में उनके मित्र उनका काम आजमाते और उसकी खामियां सुधार कर अपने काम भी लेते और सुधरी हुई चीज वापिस भी लौटा देते। ये सब अच्छा चल रहा था पर अपने आप में पूरा ओएस नहीं बन पा रहा था। हर ओएस को एक पुल चाहिए होता है जो सॉफ्टवेयर और मशीनी पुर्जों के बीच बातचीत कर सके। इसे केरनल कहा जाता है। ग्नू के लिए कामयाब केरनल नहीं बन पा रहा था। जरूरत थी थोड़े सौभाग्य की।

ये सौभाग्य आया सन् 1991 में और अंधमहासागर के दूसरी तरफ फिनलैंड की राजधानी हेलसिंकी में। लिनुस तोर्वालड्स नाम का एक छात्र दुखी था कि उसके काम का एक सॉफ्टवेयर केवल कुछ खास तरह के काम में ही इस्तेमाल

हो सकता था। खार खाकर उसने खुद अपना एक केरनल कोड लिखा और उसका नाम रखा लिनक्स। फिर उसे जांच-परख के लिए अपने मित्रों को भेज दिया। ये केरनल ग्नू में एकदम ठीक से बैठ गया। आखिरी कड़ी जुड़ गई और तैयार हुआ एक ऐसा ओएस जिसके सोर्स कोर्ड सबके लिए खुले थे, इसे मुफ्त में किसी को भी दिया जा सकता था। इसे कोई भी कंप्यूटर इंजीनियर अपनी मर्जी के मुताबिक बदल सकता था बशर्ते वो भी अपना काम निःशुल्क आगे बढ़ाए।

इसे ग्नू-लिनक्स कहा गया और बहुत जल्दी ही इसकी प्रसिद्धी कंप्यूटर की दुनिया में फैल गई। इसी समय इंटरनेट का चलन बढ़ने लगा था। ग्नू-लिनक्स पर चलने लगे बड़े-बड़े कुंप्यूटर जिन्हें सर्वर करते हैं और जिनसे असंख्य बाकी छोटे कंप्यूटर जुड़े रहते हैं। पर इस सबके बावजूद ग्नू-लिनक्स केवल कंप्यूटर इंजीनियरों के ही काम का था। क्योंकि ये ओएस उन लोगों ने बनाया था जो माइक्रोसॉफ्ट और ऐपल के ओएस की कमजोरी जानते थे। ग्नू-लिनक्स बहुत पक्का और मजबूत था। लेकिन थोड़ा ज्यादा ही शुद्ध था। ये इंजीनियर साधारण लोगों की कंप्यूटर से पूरी होने वाली व्यावहारिक जरूरतों से कोसों दूर थे। चूंकि यह बेचने के लिए नहीं था तो उसके प्रचार-प्रसार का भी नहीं सोचा था। माइक्रोसॉफ्ट की तरह उनके पास जनसंपर्क और विज्ञापन के लिए फालतू करोड़ों की संपत्ति भी नहीं थी।

कंप्यूटर को घर-घर पहुंचाने में गेट्स और जोब्स का योगदान विशेष माना जाता है। पर इनकी अपार धनदौलत के पीछे भी चोरी और छीनाझपटी की ही कहानी है। जिन कंप्यूटरों में असली ओएस और सॉफ्टवेयर बाकायदा रुपया खर्च करके डाले जाते हैं वो भी, नकल की, चोरी की दुनिया से ही निकले हैं।

इसमें कोई दस साल लगे। कुछ कंपनियां समझ गईं कि ये माल बेहतर है और इसे सजाकर अगर बेचें तो कमाई भी हो सकती है। पर ग्नू का लाईसेंस एकाधिकार, ऐसा करने से मना करता था। इसका रास्ता कुछ कंपनियों ने ये निकाला कि वो जो नई चीजें इजाद कर ग्नू-लिनक्स में जोड़ती थीं बस उनका ही मूल्य ग्राहकों से मांगती थीं। एक और तरीका निकाला गया। जो ग्राहक बने बनाए सॉफ्टवेयर में फेरबदल चाहते थे वो ग्नू-लिनक्स के इंजीनियरों को भाड़े पर रख लेती थी। एक शुद्ध सामाजिक प्रयोजन से बने ओएस से अब प्रवर्तकों की कमाई भी हो रही थी और उन्हें मुनाफा भी मिल रहा था। इनमें सबसे बड़ी कंपनी थी रेडहैट जिसके काम से बहुत से लोगों को ग्नू-लिनक्स की आश्चर्यजनक खूबियों का पता चल सका था।

लेकिन इस सबके बावजूद आम लोग घरों में चलने वाले अपने कंप्यूटरों में

ग्नू-लिनक्स इस्तेमाल नहीं करते थे। साधारण लोगों को ये बहुत जटिल लगता था। जटिल ये था भी। माईक्रोसॉफ्ट और ऐपल के बारे में लोग बहुत जानते भी थे और उनके हजारों मुलाजिम इसी पर काम करते हैं कि उनके ओएस साधारण लोग कैसे चला सकें। जरूरत थी एक अरबपति की जो अपना पैसा डाल कर ये काम करवाए।

फिर ऐसा व्यक्ति भी मिल गया। उनका नाम थाः मार्क शटलवर्थ। ग्नू-लिनक्स से सॉफ्टवेयर बनाकर शटलवर्थ ने करोड़ों की कमाई की थी। सन् 2004 में उन्होंने इसमें से कुछ करोड़ अलग कर कैनोनिकल नाम की एक कंपनी बनाई जिसका काम था ग्नू-लिनक्स से एक ऐसा औपरेटिंग सिस्टम बनाना जिसे साधारण से साधारण कंप्यूटर इस्तेमाल करने वाला भी चला सके। उन्होंने बिल गेट्स की तरह लालच और हिंसा की कमाई से दुनिया को सुधारने का ठेका नहीं उठाया। केवल उस समाज को कुछ वापिस देने का बीड़ा उठाया जिसकी बदौलत उन्हें यह अमीरी और शोहरत मिली थी।

जब ये काम तैयार हो गया तो इस ओएस का नाम रखा गया उबुंटू। ये अफ्रिका की कुछ भाषाओं का शब्द है। उबुंटू का अर्थ हैः दूसरों के प्रति सद्भाव। शटलवर्थ दक्षिण अफ्रिका के हैं जहां नस्लभेद और नस्ली हिंसा का वीभत्सकाल बहुत लंबे दौर के बाद सन् 1990 के दशक में आकर कुछ थम पाया था।

अहिंसा के सहारे चलने वाले नेलसन मंडेला और डेसमंड टूटू जैसे नेता अपने समाज में उबुंटू के नाम पर शांति और भाईचारे की फरियाद किया करते थे। इतनी हिंसा और नस्लवाद के बावजूद लोगों ने उबुंटू की अपनी परंपरा भुलाई नहीं थी। मंडेला और टूटू की सफलता के पीछे गांधीजी की प्रेरणा थी ही, उबुंटू की भावना भी थी। उबुंटू जीवन के प्रति एक पूरा दर्शन है। एक तरह की संवेदनशीलता है जो कहती है कि एक मनुष्य का अस्तित्व उसके प्रियजनों से ही सार्थक होता है।

अहिंसा के सहारे चलने वाले नेलसन मंडेला और डेसमंड टूटू जैसे नेता अपने समाज में उबुंटू के नाम पर शांति और भाईचारे की फरियाद किया करते थे। इतनी हिंसा और नस्लवाद के बावजूद लोगों ने उबुंटू की अपनी परंपरा भुलाई नहीं थी। मंडेला और टूटू की सफलता के पीछे गांधीजी की प्रेरणा थी ही, उबुंटू की भावना भी थी। उबुंटू जीवन के प्रति एक पूरा दर्शन है। एक तरह की संवेदनशीलता है जो कहती है कि एक मनुष्य का अस्तित्व उसके प्रियजनों से ही सार्थक होता है। शटलवर्थ ने नस्ली हिंसा भी देखी थी और साथ ही उबुंटू की ताकत भी।

उबुंटू-दर्शन सबके लिए सुलभ है। और उबुंटू कंप्यूटर ओएस भी मुफ्त में ही वितरित होता है। अगर इसे पाने के लिए कोई शटवर्थ को चिट्ठी या ईमेल लिख के भेज दे तो उसके घर पर उबुंटू पोस्ट से आ जाता है। उबुंटू से सरल और सुंदर शायद ही कोई कंप्यूटर ओएस हो। यह ग्नू-लिनक्स की दुनिया तो बनी ही इसलिए है कि कंप्यूटर की दुनिया को लोग अपने जीवन में अपनी जरूरत के हिसाब से ढाल सकें। इसलिए बिना जनसंपर्क के उबुंटू तेजी से फैल रहा है।

आजकल बड़ी मंहगी कंपनियों से लेकर ताजे सामाजिक आंदोलन भी, सब के सब जनसंपर्क में लगे हैं। हर कोई दिखाना चाहता है कि उसके पीछे कितने हजार लाख उपभोक्ता और लोग खड़े हैं। नंबरों का ऐसा खेल गांधीजी नहीं करते थे। उन्होंने जनसंपर्क से ज्यादा मनसंपर्क किया। तभी करोड़ों लोगों ने उन्हें वो जगह दी जो किसी और को नहीं मिल सकी। खुद नोबेल पुरस्कार देने वालों ने कहा है कि गांधीजी को नोबेल पुरस्कार की जरूरत नहीं थी पर नोबेल पुरस्कार को गांधीजी की जरूरत थी। उन्होंने कहा कि सवाल ये है कि गांधीजी के बिना क्या नोबेल पुरस्कार अधूरा नहीं है?

ये होता है मनसंपर्क। और इसी मनसंपर्क की दुनिया से निकला है सामाजिकता का कंप्यूटर ग्नू-लिनक्स। ये उबुंटू का उपहार देता है। हमें अपने पड़ोसी के प्रति सद्भावना की, मनुष्यता की याद दिलाता है। कंप्यूटर की दुनिया का यह अहिंसक, सत्याग्रही और सामाजिक संस्करण है। नई पीढ़ी की सामाजिकता आजकल कंप्यूटरों पर सिमट गई है। उसमें अनाप-शनाप मुनाफे के, धोखाधड़ी, चोरी-चपाटी के जाले लग गए हैं। उन जालों को साफ करने के लिए मनसंपर्क का यह नया कंप्यूटर एक रामबुहारी है, एक सीधी-सादी, सरल झाड़ू है।

लेकिन सामाजिकता का ठीक रूप तो कंप्यूटर के बाहर ही है। मनसंपर्क का सबसे पुख्ता तरीका तो बहुत पुराना है। अपने पड़ोसी को ईमेल भेजने के बजाय उससे मिलिए या हाथ का पत्र लिखिए। सुख-दुख पूछिए।

इससे बड़ा मनसंपर्क किसी फेसबुक से नहीं मिलेगा।

*

ना जा स्वामी परदेसा

अनुपम मिश्र

ढौंड गांव के पंचायत भवन में छोटी-छोटी लड़कियां नाच रही थीं। उनके गीत के बोल थेः ठंडो पानी मेरा पहाड़ मा, ना जा स्वामी परदेसा। ये बोल सामने बैठे पूरे गांव को बरसात की झड़ी में भी बांधे हुए थे। भींगते दर्शकों में ऐसी कई युवा और अधेड़ महिलाएं थीं, जिनके पति और बेटे अपने जीवन के कई बसंत 'परदेस' में ही बिता रहे हैं। ऐसे वृद्ध भी इस कार्यक्रम को देख रहे थे, जिनने अपने जीवन का बड़ा भाग 'परदेस' की सेवा में लगाया था। और भीगी दरी पर वे छोटे-बच्चे भी थे, जिन्हें शायद कल परदेस चले जाना है।

एक गीत पहाड़ों के इन गांवों से लोगों का पलायन भला कैसे रोक पाएगा? लेकिन गीत गाने वाली टुकड़ी गीत गाती जाती है। आज ढोंड गांव में है तो कल डुलमोट गांव में। फिर जन्द्रिया में, भरनों में, उफरैंखाल में। यह केवल सांस्कृतिक आयोजन नहीं है। इसमें कुछ गायक हैं, नर्तक हैं, एक हारमोनियम, ढोलक है तो सैकड़ों कुदाल-फावड़े भी हैं जो हर गांव में कुछ ऐसा काम रहे हैं कि वहां बरसकर तेजी से बह जाने वाला पानी वहां कुछ थम सके, तेजी से बह जाने वाली मिट्टी वहीं रुक सके और इन गांवों में उजड़ गए वन, उजड़ गई खेती फिर से संवर सके। आधुनिक विकास की नीतियों ने यहां के जीवन की जिस लय को, संगीत को बेसुरा किया है, उसे फिर से सुरीला बनाने वालों की टोली है यह दूधातोली की।

पौड़ी गढ़वाल, उत्तराखंड के दूधातोली इलाके के उफरैंखाल में आज से कोई 21 बरस पहले बनी यह छोटी-सी टोली आज यहां के कोई 100 गांवों में फैल गई है और इस क्षेत्र में अपने काम को खुद करने का वातावरण बना रही है। अपने काम में हैं अपने वन, अपना पानी, अपना चारा, अपना ईंधन और अपना माथा, स्वाभिमान।

इस टोली के विनम्र नायक हैं शिक्षक सच्चिदानंद भारती। वे उफरैंखाल के इंटर कालेज में पढ़ाते हैं। सन् 1979 में वे चमोली जिले के गोपेश्वर महाविद्यालय में पढ़ रहे थे। उसी दौर में वहां प्रसिद्ध चिपको आंदोलन ने जन्म लिया था।

भारती ने अपनी कालेज की पढ़ाई के अलावा उस दौर में एक सजग छात्र के नाते पहाड़ के जीवन के पर्यावरण की पढ़ाई में भी पूरी निष्ठा से रुचि ली थी। वे चिपको आंदोलन के जनक श्री चंडीप्रसाद भट्ट के साथ आंदोलन के कई मोर्चों पर लड़े भी थे और बाद में उसके रचनात्मक पक्ष में भी सक्रिय रहे थे। संघर्ष और रचना का संयुक्त पाठ उन्होंने वहीं से सीखा था।

सन् 1979 में अपनी पढ़ाई पूरी कर वे पौड़ी जिले में अपने गांव गाडखर्क, उफरैंखाल लौटे थे। उन्हीं दिनों उन्हें गांव में खबर मिली कि उत्तराखंड के मध्य में स्थित दूधातोली क्षेत्र में वन विभाग फर-रागा के पेड़ों का कटान कर रहा है। हिमालय में रागा प्रजाति भोजवृक्ष की तरह ही धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। पुराने पेड़ जा रहे हैं और जो नए पौधे पनपने चाहिए, वे पनप नहीं पा रहे हैं।

श्री भारती को लगा कि इस कटान को तो हर कीमत पर रोकना चाहिए। वे अपने कुछ साथियों के साथ दूधातोली वन क्षेत्र से जुड़े गांवों की ओर चल पड़े। गांवों में पदयात्रा के माध्यम से जगह-जगह लोगों को यह समझाने की कोशिश की गई कि यह वन सरकार का जरूर है पर इसके कटान का, इसके विनाश का पहला बुरा झटका गांवों को भोगना पड़ेगा। यह वन भले ही हमारा न हो पर विनाश हमारा ही होगा। सब लोग साथ दें तो इस विनाश को रोका जा सकता है।

लोगों की जागृति का, एक जुट होने का यह किस्सा काफी पुराना और लंबा भी है। यहां उसे दुहराना आवश्यक नहीं है। बस इतना ही बता देना काफी है कि कई बार अच्छे ढंग से रखी गई बात सरकार और उसके अधिकारी भी समझ लेते हैं और हमेशा संघर्ष, टकराव का रास्ता लेना जरूरी नहीं होता। दूधातोली में भी यही हुआ।

ऐसी घटना उस क्षेत्र के लिए नई थी। इससे दो बातें निकलीं– एक तो यह कि लोग एक हो जाएं तो सरकार के गलत कामों, निर्णयों को भी रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। और दूसरी यह कि अब जब एक बड़े विनाश को रोक ही लिया गया है तो फिर इसी स्थान से वनों के संवर्धन का काम क्यों न शुरू किया जाए।

एक पर्यावरण शिविर रखा गया। आसपास और कुछ दूर के लोगों को, गांवों को उफरैंखाल आने का न्योता दिया गया। सड़कों से बहुत दूर छोटा-सा गांव, हाथ में न कोई साधन, न कोई संपर्क। शिविर तो रख लिया पर इसके लिए पैसा चाहिए था। भोजन आदि पर कुछ तो खर्च होगा ही। किससे पूछें, किससे मांगे? नई दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान को पत्र लिखा। एक हजार रुपए वहां से आए।

इस तरह जुलाई 1980 में दूधातोली क्षेत्र में पहला पर्यावरण शिविर संपन्न हुआ। लोगों ने अपने-अपने क्षेत्र की परिस्थिति, वनों की स्थिति, कहां क्या कितना उजड़ गया है आदि बातें एक दूसरे के सामने रखीं। जो घटनाएं चुपचाप घट रही थीं, उनका मौन तो टूटा। शिविर के अंत में सबने पास के वन क्षेत्र में जाकर पौधों का रोपण किया।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिविर से एक नए विचार का पौधा लगा इस तरह। तब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाएगा और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएंगे।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिविर से एक नए विचार का पौधा लगा इस तरह। तब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाएगा और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएंगे।

इस काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सन् 1982 में एक संस्था बनीः 'दूधातोली लोक विकास संस्थान'। स्थापना के समय ही कुछ बातें तय की गई थीं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण संवर्धन का काम तो करना ही है तो इसमें संस्था का आधार वहीं के लोग तथा देसी साधन हों, इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा। यह भी योजना बनी कि शिविरों के माध्यम से यह सब काम किया जाएगा। जल्दी ही समझ में आ गया कि वनीकरण करना है तो अपनी जरूरत के पौधे भी तैयार खुद ही करने पड़ेंगे। संस्था बनाने में शिक्षकों की भूमिका प्रमुख थी, इसलिए आगे की योजनाओं में उनका ध्यान सबसे पहले अपने छात्रों की तरफ गया। तब स्कूलों में पर्यावरण संवर्धन एक विषय की तरह नहीं आया था। पर यहां तो यह पढ़ाई का नहीं, जीवन का एक अंग बन गया।

छात्रों ने अपने शिक्षकों की प्रेरणा से तरह-तरह के बीजों का संग्रह प्रारंभ किया। सबसे पहले इन लोगों ने अखरोट के पौधों की एक नर्सरी बनाई। इन पौधों की बिक्री प्रारंभ हुई। वहीं के गांवों से वहीं की संस्था को पौधों की बिक्री से कुछ आमदनी होने लगी। यह राशि फिर वहीं लगने जा रही थी। छोटे-छोटे साधनों से एक बड़े साध्य को साधने की एक लंबी यात्रा का प्रारंभ हुआ। एक के बाद एक शिविर लगते गए और उजड़े वन क्षेत्रों में धीरे-धीरे वनीकरण होने लगा।

इन शिविरों में रस्म पूरी नहीं की जाती थी। पूरा काम करने के लिए ये लगते थे, इसलिए कभी-कभी तो इनकी अवधि दस दिन तक भी होती। कभी

ये वन क्षेत्र में लगते तो, कभी गांवों के स्कूल में, पंचायत भवन में। ध्यान रखा जाता कि स्थान सार्वजनिक हो ताकि सभी लोग इनमें आ सकें। शिविर कहीं भी लगें, इनमें आसपास के पांच-दस गांवों के स्त्री-पुरुषों, बच्चों को जोड़ने की कोशिश होती थी। चूंकि शिविरों का मुख्य विषय ही घास, जंगल, पानी, खेती आदि हुआ करता – इसलिए धीरे-धीरे इनसे महिलाएं जुड़ती चली गईं। फिर इन्हीं शिविरों में हुई बातचीत से यह भी निर्णय सामने आया कि हर गांव में अपना वन बने। वह सघन भी बने ताकि ईंधन, चारे आदि के लिए महिलाओं की सुविधा बढ़ सके। इस तरह हर शिविर के बाद उन गांवों में महिलाओं के अपने नए संगठन उभर आए। ये महिला मंगल दल कहलाए।

ये महिला दल कागजी नहीं थे। कागज पर बने ही नहीं थे। कोई लेखा-जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिविर चलाने वाली मुख्य मानी गई संस्था दूधातोली के कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गांवों में धीरे-धीरे ऊंचे उठ रहे सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती है।

ये महिला दल कागजी नहीं थे। कागज पर बने ही नहीं थे। कोई लेखा-जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिविर चलाने वाली मुख्य मानी गई संस्था दूधातोली के कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गांवों में धीरे-धीरे ऊंचे उठ रहे, सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती है।

प्रतिदिन दल की सदस्याएं बारी-बारी से वन की रखवाली करती हैं। रखवाली का तरीका अपने आप में अनोखा और सुरीला, संगीतमय है।

एक लाठी है। लेकिन यह साधारण लाठी नहीं है। इसके ऊपरी सिरे पर बड़े आकार के दो-चार घुंघरू लगे हैं। इस लाठी का नाम है खांकर। खांकर लेकर महिलाएं वन में रखवाली करती हैं। हर कदम पर लाठी जमीन पर लगती है और खांकर के घुंघरू खनक जाते हैं। एक खांकर की संगीतमय ध्वनि वन की घनी चुप्पी को तोड़ती वन के दूसरे भागों में इसी तरह रखवाली कर रही अन्य महिलाओं को एक दूसरे से जोड़े रखती है। यह संगीतमय लाठी एक अन्य सुरीली व्यवस्था का भी अंग है। सांझ को वन की रखवाली के बाद महिलाएं गांव वापस आती हैं और अपनी खांकर अपने घर के दरवाजे के आगे न रख किसी अन्य महिला के दरवाजे पर टिका देती हैं। इसका अर्थ है कल उस घर की महिला खांकर लेकर वन रखवाली के

लिए निकलेगी। अपने बच्चों की तरह पाल पोसकर खड़े किए वनों की रखवाली, निगरानी, सार संभाल का यह घरेलू तरीका आज दूधातोली क्षेत्र के कोई 136 गांवों में बड़े नियम से, स्व अनुशासन से चल रहा है। प्रायः पगडंडियों से बंटे और पहाड़ों की चोटियों घाटियों में एक दूसरे से मीलों दूर बसे ये गांव बिना बाहरी पैसे के, आदेश के अपने दम पर खांकर के संगीत से जुड़ते गए।

इन शिविरों आयोजन हमेशा बड़ी सरलता से होता रहा हो– ऐसा नहीं है। बीच के कई वर्ष बड़ी कठिनाई के वर्ष थे। कहीं से भी कोई मदद नहीं थी। पर शिविरों की और काम की कड़ी कभी टूटने नहीं दी गई। गांवों ने अपने सीमित साधनों से इस असीमित काम को जारी रखने की बराबर कोशिश की।

1993 में प्रारंभ में सच्चिदानंद भारती ने अपने क्षेत्र में वनों के साथ पानी की परंपरा को भी समझना प्रारंभ किया। पहाड़ों में ताल तो आज भी हैं। इनकी संख्या तेज ढलानों के कारण कम ही रही है। पर खाल और चाल नामक दो और रूप भी यहां रहे हैं। वे पिछली सदी में लगभग मिट गए थे। दूधातोली का उफरैंखाल नाम स्वयं इस बात का प्रतीक था कि कभी यहां पानी का अच्छा प्रबंध रहा होगा। खाल ताल से छोटा रूप है तो चाल खाल से भी छोटा। ये ऊंचे पहाड़ों की तीखी ढलानों पर भी बनती रही हैं। पर अब तो ये सामने थी नहीं। नया काम कैसे करें? किसी को कुछ पता नहीं था। इसलिए कुछ आपसी बातचीत, कुछ अंदाज, कुछ प्रयोग से वनों के संवर्धन के साथ पहाड़ों में जल संरक्षण के काम को जोड़ा। एक से एक जुड़ा तो योग दो न होकर ग्यारह हो गया। इकाई से इकाई मिली और दहाई परिणाम सामने आने लगे।

दूधातोली क्षेत्र में चाल बनाने का काम गाडखर्क गांव से, उफरैंखाल से प्रारंभ हुआ पर फिर तो यह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। आज इस क्षेत्र में कोई 35 गांव में खाली पड़ी बंजर जमीन पर, पानी की कमी से उजड़ गए खेतों में और अच्छे घने वनों तक में कोई 7000 चालें वर्ष भर चांदी की तरह चमकती हैं। उत्तराखंड में जब सन् 1999 में सभी जगह पानी की बेहद कमी थी, अकाल पड़ रहा था तब दूधातोली क्षेत्र में अप्रैल, मई, जून के महीनों में भी चालों में लबालब पानी भरा रहा। आज सन् 2010 में इस इलाके में कोई 20,000 छोटी-बड़ी चाल बन चुकी हैं।

चालों के चलन की फिर से वापसी ने इस क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किए हैं। उजड़े खेतों में फिर से फसल लगाने की तैयारी हो रही है। बंजर वन भूमि में साल भर पानी रहने के कारण प्रकृति स्वयं अपने अनेक अदृश्य हाथों से उसमें घास और पौधे लगा रही है तो ठीक पनपन चुके वनों में और अधिक सघनता आ रही है। घास, चारा, ईंधन और पानी– इनके बिना पर्वतीय व्यवस्था चरमरा गई थी।

आज यहां फिर से जीवन का मधुर संगीत वापस लौट रहा है। 'घास, चारा, पानी– यों के बिना योजना कानी' का नारा भी यहां चलता है।

चाल का जो काम जंगलों में आग की तरह फैला है, उसने जंगलों की आग को भी समेटने में अद्‌भुत भूमिका निभाई है। उत्तराखंड और देश के अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में हर वर्ष गरमी के महीनों में वनों में बड़े पैमाने पर आग लगने की घटनाएं होती हैं। इन्हें बुझाने का कोई कारगर तरीका अभी तक वन विभाग के हाथ नहीं आया है। जब भी इस विषय पर बहस होती है तो हमारा वन विभाग रूस, ग्रीस, स्पेन, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के वन क्षेत्रों का उदाहरण देकर हेलिकॉप्टरों के उपयोग की वकालत करता है। वह यह भूल जाता है कि वहां हैलिकाप्टरों से भी आग नहीं बुझती है। ये घटनाएं हर साल बढ़ती ही जा रही हैं।

वनों में आग एक बड़ी समस्या है। वर्षा के दिनों में बरसा पानी पहाड़ की चोटियों से नीचे घाटी में, नदी में चला जाता है। फिर ठंड का मौसम तो ठीक बीतता है पर गरमी की ऋतु आते ही सारा वन क्षेत्र तप जाता है। घास सूख जाती है और वन के वन सूखी घास के ढेर पर बस एक जरा-सी एक चिनगारी का इंतजार करते रहते हैं। मई 1998 में कोई 80,000 हेक्टेयर वन क्षेत्र आग में स्वाहा हुआ था। आज देश में प्रतिवर्ष वनों की आग से कोई 450 करोड़ रुपए की हानि होती है। लेकिन कीमती वन, पेड़ पौधे, घास, चारा और वन्य जीव के उस नुकसान को आप सरकारी आंकड़ों में, रुपयों में नहीं नाप सकते। प्रकृति की वर्षों की मेहनत, समाज के लिए पीढ़ियां की सुविधा अकाल, बाढ़ से रक्षा का सर्वोत्तम कवच– सब कुछ देखते ही देखते राख हो जाता है।

दूधातोली में जब से पानी का, चाल और खाल का काम प्रारंभ हुआ है, तब से यहां के वन आग से सुरक्षित हो चले हैं। सभी ग्राम वनों में बनी चालों के कारण उनमें गर्मी के तपते मौसम में भी नमी और इस कारण हरियाली बनी रही है, आग नहीं लग पाती। कहीं आग लग भी जाए तो यह लाचारी नहीं होती कि अब इसे कैसे बुझाया जाए। भरनों नामक गांव के अपने पाले वन में, मई 1998 में आग जरूर लगी थी पर चालों की उपस्थिति के कारण वह जल्दी ही नियंत्रण में आ गई थी। पर इसी गांव के पास का सरकारी वन आग से बच नहीं पाया था। इसी तरह जन्द्रिया गांव का सरकारी वन भी आग की भेंट चढ़ा था। यहां वन विभाग वनों को आग से बचाने की अपील करने वाले बोर्ड लगाने तो आता है पर आग बुझाने नहीं आ पाता। इन गांवों में लोगों ने चाल बनाकर अपने वन सुरक्षित किए हैं और शासकीय वनों में लगी आग को भी अपनी चालों के पानी से बुझाने का प्रयास किया है। सन् 1998 की मई में ऐसे प्रयासों में गांव की तीन महिलाएं आग बुझाते हुए स्वयं झुलस गई थीं और उन्हें बचाया नहीं जा सका था।

इन चालों ने या अब जिन्हें यहां जल तलाई भी कहा जाने लगा है, गांव में शासकीय जल प्रदाय योजनाओं को भी नया जीवन दिया है। उत्तराखंड के अनेक गांवों में पानी की कमी होने लगी है। हिमालय पानी का, नदियों का मायका भी कहलाता है। पर पानी के मायके में ही पानी नहीं बच पाता था। 'स्वजल' जैसी खर्चीली योजनाओं ने भी पैसा खूब बहाया पर पानी नहीं बह पाया है। एक सीमित क्षेत्र में ही सही पर लोगों की चालों ने यहां पानी का प्रश्न हल करके दिखाया है। अब पूरे वर्ष भर पानी खूब है। चालों ने सूख चुके नालों को, छोटी नदियों को, गदेरों को भी सरस कर दिया है।

उफरैंखाल के वन से निकलने वाली सूखारौला नदी वर्षा में उफन जाती थी और फिर नवंबर में ही सूख जाती थी। इसलिए इसका नाम ही सूखारौला पड़ चुका था। यहां सन् 1993 से 1998 तक कोई 1000 जल तलाई बनी होंगी– इन सबमें संचित जल की एक-एक बूंद ने सूखारौला का स्वभाव बदला। सूखे दिनों में भी उसमें पानी था। पर गांव ने धीरज रखा, एकदम नाम नहीं बदला। जब जनवरी 2001 में भी सूखा रौला सूखा नहीं तो कृतज्ञ गांव ने इसका नया नाम रखने का निर्णय लिया। क्या होगा नया नाम? नया नाम रखना कोई आसान काम नहीं था। पर इस कठिन काम को गांव ने अपनी श्रद्धा से गंगा के साथ जोड़ना ही उचित समझा। गांव का नाम गाडखरक तो नई नदी हो गई गाडगंगा। आज गाडगंगा वर्ष भर बहती है और फिर पसोली नदी में मिलकर उसे और भी समृद्ध कर रही है।

हिमालय के इन गांवों को उदारता से इतना लाभ बांटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहां भी ठीक जगह मिली वहां 5 से 10 घनमीटर के आकर की जल तलाई बनाई जाती है। यह अपने आपसे कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल तलाई की श्रृंखला में छिपा है।

हिमालय के इन गांवों को उदारता से इतना लाभ बांटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहां भी ठीक जगह मिली वहां 5 से 10 घनमीटर के आकर की जल तलाई बनाई जाती है। यह अपने आपसे कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल तलाई की श्रृंखला में छिपा है। जब ऊपर से नीचे तक पूरे ढलान को अनेक जल तलाई अपने छोटे-छोटे आकार से ढक देती हैं तब पानी का अक्षय भंडार बन जाता है। पानी पहाड़ी ढलानों में यहां-वहां से बहता है, इसलिए जल तलाई भी यहां-वहां ही बनाई जाती हैं और इस तरह हर जगह पानी एकत्र होता जाता है। इन सबमें

संग्रहीत पानी धीरे-धीरे रिसकर नीचे घाटी तक आता है। यहां घाटी में चालों से बड़े ढांचे, यानी खाल या ताल बनाए गए हैं। इनमें भी अब पूरे वर्ष पानी का भंडार बना रहता है।

चाल छोटी है आकार में और लागत में भी। कोई 50 से 100-200 रुपए में एक चाल बन जाती है। बनाने वाले इसे अपना काम मानकर बनाते हैं। इसलिए 50-100 की मदद भी कम नहीं मानते। वे इसे बनाते समय अपने को किसी का मजदूर नहीं मानते। वे इसके मालिक हैं और उनके स्वामित्व से सामाजिक समृद्धि साकार होती है। ऐसी सुदृढ़ समृद्धि पूरे समाज का आत्मविश्वास बढ़ाती है। उनका माथा ऊंचा करती है। तब यदि अचानक कोई बड़ी लेकिन अव्यावहारिक योजना वहां आ जाए तो लोगों के पैर नहीं डगमगाते।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था। और भी समाजसेवी संस्थाएं ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ-साथ जरूरत आ पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती हैं। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

एक ऐसी ही योजना सन् 1998 में इस क्षेत्र की पूर्वी नयार घाटी में आई थी। जलागम विकास का काम था। समर्थन था विश्व बैंक जैसी संपन्न संस्था का। पर इन गांवों ने उसका समर्थन नहीं किया।

काम तो वही था जिसे ये गांव कर ही रहे थे– वनों का विकास। जलागम क्षेत्र का विकास। पैसे की कोई कमी नहीं थी। पूरी परियोजना की लागत 90 करोड़ रुपए थी। गांव-गांव में जब इस योजना का बखान करने वाले बड़े-बड़े बोर्ड लग गए तब सच्चिदानंद भारती ने वन विभाग के जिम्मेदार अधिकारियों को एक छोटा-सा पत्र भर लिखा था। उसमें उन्होंने बहुत विनम्रता से बताया था कि इस क्षेत्र में वनों का, पानी का अच्छा काम गांव खुद ही कर चुके हैं– बिना बाहरी, विदेशी या सरकारी मदद के। तब यहां इन 90 करोड़ रुपयों से और क्या काम करने जा रहे हैं आप? भरोसा न हो तो कुछ अच्छे अधिकारियों का एक दल यहां भेंजें, उससे जांच करवा लें और यदि हमारी बात सही लगे तो कृपया इस योजना को यहां से वापस ले लें।

शायद देश में पहली बार ही ऐसा हुआ होगा कि सचमुच वन विभाग का एक दल यहां आया और इस क्षेत्र में पहले से ही लगे, पनपे और पाले गए सुंदर घने वनों को देखकर न सिर्फ चुपचाप लौट गया, बल्कि अपने साथ 90 करोड़ की योजना भी समेट ले गया।

वनों के गांव, हिमालय के कुछ थोड़े से गांव तय कर लें तो वे बिना बाहरी मदद, विदेशी पैसे, सरकारी पैसे के अपने और अपने थोड़े से शुभचिंतकों के सहारे से कोई एक शताब्दी की गलतियों को 20 वर्षों में सुधार कर कितना बड़ा काम खड़ा कर दिखा सकते हैं। इसमें केवल उत्तराखंड ही नहीं, सभी पर्वतीय क्षेत्रों के सुधार के बीज छिपे हैं।

पर्वत जैसे इस साध्य को पाने के लिए दूधातोली लोक विकास संस्थान के कार्यकर्ताओं ने साधनों के संबंध में भी एक अलग ही साधना की है। 136 गांवों में ऐसा सुंदर काम करने वाली संस्था में केवल पांच कार्यकर्ता हैं।

प्रमुख हैं श्री सच्चिदानंद भारती। ये उफरैंखाल के इंटर कॉलेज में शिक्षक हैं। वेतन शिक्षा विभाग से मिलता है। बच्चों को प्रेम से पढ़ाते हैं और बचे हुए समय में पूरे समय ही समाज सेवा करते हैं। भारती ने शिक्षा को, समाज की सेवा की शिक्षा को सचमुच छोटे से स्कूल की चारदीवारी से बाहर निकाल पूरी पट्टी में नीचे घाटियों से लेकर ऊपर की चोटियों तक फैलाया है। दूसरे कार्यकर्ता श्री दिनेश हैं। संस्था के अब ये मंत्री हैं। ये उफरैंखाल गांव में ही दवाओं की एक छोटी-सी दुकान चलाते हैं। जब भी समाज का, संस्था का काम आता है, वे दवा की दुकान का शटर गिराकर सेवा का द्वार खोल लेते हैं। वे भी संस्था से वेतन नहीं लेते। तीसरे कार्यकर्ता हैं श्री दीनदयालजी। वे जीविका के लिए डाकिए का काम करते हैं। डाक भी बांटते हैं और साथ-साथ दूधातोली संस्थान के माध्यम से लोगों का दुख दर्द भी बांट लेते हैं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण के संवर्धन की पाती, चिट्ठी भी दूर-दूर पैदल पहुंचाते हैं। और उनकी इस पाती को सब पढ़ते हैं। चौथे हैं विक्रमजी। ये भी गांव डुलमोट में अपनी पैतृक पनसारी दुकान का काम देखते हैं। पांचवें हैं हरिसिंहजी। ये खेती करते हैं। और फिर कोई सौ गांवों में फैले हैं संस्था के स्वयंसेवक। इनकी संख्या होगी लगभग एक हजार। इनमें उन महिलाओं की संख्या कोई पांच सौ होगी जो सुबह से शाम तक खांकर लेकर अपने वनों की रखवाली करती हैं।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था। और भी समाजसेवी संस्थाएं ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ-साथ जरूरत आ पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती हैं। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

साधनों को जुटाने और उन्हें इतनी किफायत से खर्च करने का असर दूसरों पर भी पड़ता है। संस्था रजिस्टर्ड है। हर वर्ष उसे अपनी आमदनी और खर्च का आडिट करना पड़ता है। लेकिन इस काम को करने वाले आडिटर इस संस्था के लिए अपनी सेवाएं निशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी आडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के

छोटे-बड़े अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते हैं। सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है।

इस क्षेत्र के ये गांव कोई 4000 फुट से 7000 फुट की ऊंचाई पर बसे हैं। साल भर मौसम खूब ठंडा रहता है। ठंड के मौसम में अधिकांश भाग बर्फ की चादर से ढंक जाता है। ऐसे ठंडे क्षेत्रों में वनस्पति का विस्तार भी बहुत धीरे-धीरे होता है। और कीमती उपजाऊ मिट्टी भी धीरे-धीरे ही बन पाती है। लेकिन तीखी ढलानों के कारण वर्षा के मौसम में इस कीमती मिट्टी को नीचे मैदान की ओर बहने में जरा भी देरी नहीं लगती। तेज बहता पानी अपने साथ और भी तेजी से मिट्टी काटकर, बहाकर ले जाता है। ऐसे में मिट्टी और पानी का संरक्षण दो-चार साल का नहीं, कुछ सदियों का काम बन जाता है।

इस काम को करने वाले आडिटर इस संस्था के लिए अपनी सेवाएं निशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी आडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के छोटे-बड़े अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते हैं। सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है।

दूधातोली का यह काम इसलिए बहुत ही धीरज के साथ खड़ा किया गया है। इसमें लक्ष्य संख्या, आंकड़ों या पैसों, रुपयों का नहीं, चुपचाप काम का रखा गया है। इसलिए दूध ातोली का यह दल शायद ही कभी अपना क्षेत्र छोड़ बाहर निकल पाता है। बाहर के लोग, कुछ मित्र, शुभचिंतक यहां कभी-कभी ही आ पाते हैं। तब उनका बहुत ही आत्मीय स्वागत होता है। देवपूजन में काम आने वाली पैंया की पत्ती की सादी लेकिन भव्य माला में बुरांस का एकाध फूल पूरे गांव की आतिथ्य भावना को आनंद में बदल देता है। खेत और वनों के फूल शिविरों को नए ढंग से रंग देते हैं। संगीत टुकड़ी का स्वर, ढोल नगाड़े, रंगसिंगे पूरी घाटी में गूंजने लगते हैं। मिट्टी और पानी को 'परदेस' जाने से रोकने के लिए

मध्य प्रदेश शासन ने सन् 2011 का अपना प्रतिष्ठित राष्ट्रीय महात्मा गांधी सम्मान दूधातोली लोक विकास संस्थान को प्रदान किया है।

*

पुराना चावल

नमक का दारोगा

प्रेमचंद

पिछली तीन पीढ़ियों से हजारों-हजार लोगों ने नमक के इस विचित्र दारोगा वंशीधर का किस्सा सचमुच हजारों बार पढ़ा होगा। भ्रष्टाचार उन दिनों भी शिष्ट पदों पर जाने वालों के आचरण का एक अंग बन चला था। सन् 1917 में जब यह कहानी पहली बार छपी थी, तब न लोकपाल बिल था और न जनलोकपाल। पर लोक की आकांक्षाओं का पालन करने वाले ऐसे लोग बराबर थे, जो धर्म और धन की लड़ाई में सत्य के सिवा और किसी भी चीज को बलवान नहीं मानते थे। इस पुराने चावल की सुगंध आज भी चारों तरफ फैलती है।

जब नमक का नया विभाग बना और ईश्वर प्रदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी छिपे इसका व्यापार करने लगे। अनेक प्रकार के छल-प्रपंचों का सूत्रपात हुआ। कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से। अधिकारियों के पौ-बारह थे। पटवारीगिरी का सर्वसम्मानित पद छोड़-छोड़ कर लोग इस विभाग की बरकंदाजी करते थे। इसके दारोगा पद के लिए तो वकीलों का भी जी ललचाता था। यह वह समय था जब अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। फारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएं और श्रृंगार रस के काव्य पढ़कर फारसी दां लोग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे।

मुंशी वंशीधर भी जुलेखा की विरह-कथा समाप्त करके मजनू और फरहाद के प्रेम-वृतांत को नल और नील की लड़ाई और अमेरिका के आविष्कार से अधिक महत्व की बातें समझते हुए रोजगार की खोज में निकले। उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे। समझाने लगेः "बेटा! घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ

से दबे हुए हैं। लड़कियां हैं, वे घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं। मैं कगारे पर का वृक्ष हो रहा हूं, न मालूम कब गिर पड़ूं। अब तुम्हीं घर के मालिक मुख्तार हो। नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूंढ़ना जहां कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है, जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसकी बरकत होती है। तुम स्वयं विद्वान हो, तुम्हें क्या समझाऊं। इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखो और अवसर देखो, उसके उपरांत जो उचित समझो, करो। गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ ही लाभ है। लेकिन बेगरज को दांव पर पाना जरा कठिन है। इन बातों को निकाह में बांध लो। यह मेरी जन्म-भर की कमाई है।"

पंडित अलोपीदीन का लक्ष्मीजी पर अखंड विश्वास था। वे कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है। उनका यह कहना यथार्थ ही था। न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं।

इस उपदेश के बाद पिताजी ने आशीर्वाद दिया। वंशीघर आज्ञाकारी पुत्र थे। ये बातें ध्यान से सुनीं और तब घर से चल खड़े हुए। इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथप्रदर्शक और आत्मावलंबन ही अपना सहायक था। लेकिन अच्छे शकुन से चले थे, जाते ही जाते नमक विभाग के दारोगा पद पर प्रतिष्ठित हो गए। वेतन अच्छा और ऊपरी आय का तो ठिकाना ही न था। वृद्ध मुंशीजी को सुख-संवाद मिला तो फूले न समाए। महाजन कुछ नरम पड़े, कलवार की आशा लता लह-लहाई। पड़ोसियों के हृदय में शूल उठने लगे।

जाड़े के दिन थे और रात का समय। नमक के सिपाही, चौकीदार नशे में मस्त थे। मुंशी वंशीधर को यहां आए अभी छह महीनों से अधिक न हुए थे, लेकिन इस थोड़े समय में ही उन्होंने अपनी कार्यकुशलता और उत्तम आचार से अफसरों को मोहित कर लिया था। अफसर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे।

नमक के दफ्तर से एक मील पूर्व की ओर जमुना बहती थी। उस पर नावों का एक पुल बना हुआ था। दारोगाजी किवाड़ बंद किए मीठी नींद सो रहे थे। अचानक आंख खुली तो नदी के प्रवाह की जगह गाड़ियों की गड़गड़ाहट तथा मल्लाहों का कोलाहल सुनाई दिया। उठ बैठे। इतनी रात गए गाड़ियां क्यों नदी

के पार जाती हैं? अवश्य कुछ न कुछ गोलमाल है। तर्क ने भ्रम को पुष्ट किया। बरदी पहनी, तमंचा जेब में रखा और बात की बात में घोड़ा बढ़ाए हुए पुल पर आ पहुंचे। गाड़ियों की एक लंबी कतार पुल के पार जाती देखी। डांट कर पूछा किसकी गाड़ियां हैं?

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। आदमियों में कुछ काना-फूसी हुई, तब आगे वाले ने कहा– पंडित अलोपीदीन की।

"कौन पंडित अलोपीदीन!"

"दातागंज के।"

मुंशी वंशीधर चौंके। पंडित अलोपीदीन इस इलाके के सबसे प्रतिष्ठित जमींदार थे। लाखों रुपए का लेन-देन करते थे। इधर छोटे से बड़े कौन ऐसे थे जो उनके ऋणी न हों। व्यापार भी बड़ा लंबा-चौड़ा था। बड़े चलते-पुरजे आदमी थे। अंग्रेज अफसर उनके इलाके में शिकार खेलने आते और उनके मेहमान होते। बारहों मास सदाव्रत चलता था।

मुंशीजी ने पूछा, गाड़ियां कहां जाएंगी? उत्तर मिला, कानपुर। लेकिन इस प्रश्न पर कि इनमें क्या है, सन्नाटा छा गया। दारोगा साहब का संदेह और भी बढ़ा। कुछ देर तक उत्तर की बाट देख कर वे जोर से बोले, क्या तुम सब गूंगे हो गए हो? हम पूछते हैं, इनमें क्या लदा है?

जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने घोड़े को एक गाड़ी से मिला कर बोरे को टटोला। भ्रम दूर हो गया। ये नमक के ढेले थे।

पंडित अलोपीदीन अपने सजीले रथ पर सवार, कुछ सोते कुछ जागते चले आते थे। अचानक कई गाड़ीवानों ने घबड़ाए हुए आकर जगाया और बोले– महाराज! दारोगा ने गाड़ियां रोक दी हैं और घाट पर खड़े आपको बुलाते हैं।

पंडित अलोपीदीन का लक्ष्मीजी पर अखंड विश्वास था। वे कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या, स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है। उनका यह कहना यथार्थ ही था। न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, इन्हें वह जैसे चाहती हैं नचाती हैं। लेटे ही लेटे गर्व से बोले, चलो हम आते हैं। लिहाफ ओढ़े हुए दारोगा के पास आकर बोले, "बाबूजी आशीर्वाद! कहिए, हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ कि गाड़ियां रोक दी गईं। हम ब्राह्मणों पर तो आपकी कृपा दृष्टि रहनी चाहिए।"

वंशीधर रुखाई से बोले, "सरकारी हुक्म!"

पंडित अलोपीदीन ने हंसकर कहा, हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को। हमारे सरकार तो आप ही हैं। हमारा और आपका तो घर का मामला है, हम कभी आपसे बाहर हो सकते हैं? आपने व्यर्थ का कष्ट उठाया। यह हो नहीं सकता कि इधर से जाएं और इस घाट के देवता को भेंट न चढ़ाएं।

मैं तो आपकी सेवा में स्वयं ही आ रहा था।

वंशीधर पर ऐश्वर्य की मोहिनी वंशी का कुछ प्रभाव न पड़ा। ईमानदारी की नई उमंग थी। कड़क कर बोले, "हम उन नमकहरामों में नहीं हैं, जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। आप इस समय हिरासत में हैं। आपका कायदे के अनुसार चालान होगा। बस, मुझे अधिक बातों की फुर्सत नहीं है! जमादार बदलूसिंह! तुम इन्हें हिरासत में ले चलो, मैं हुक्म देता हूं।"

पंडित अलोपीदीन स्तंभित हो गए। गाड़ीवानों में हलचल मच गई। पंडितजी के जीवन में कदाचित यह पहला ही अवसर था कि पंडितजी को ऐसी कठोर बातें सुननी पड़ीं। बदलूसिंह आगे बढ़ा, किंतु रोब के मारे यह साहस न हुआ कि उनका हाथ पकड़ सके। पंडितजी ने धर्म को धन का ऐसा निरादर करते कभी न देखा था। विचार किया यह अभी उद्दंड लड़का है। माया-मोह के जाल में अभी नहीं पड़ा। अल्हड़ है, झिझकता है। बहुत दीन-भाव से बोले, "बाबू साहब ऐसा न कीजिए, हम मिट जाएंगे। इज्जत धूल में मिल जाएगी। हमारा अपमान करने से आपके हाथ क्या आएगा। हम किसी तरह आपसे बाहर थोड़े ही हैं!"

वंशीधर ने कठोर स्वर में कहा, "हम ऐसी बातें नहीं सुनना चाहते।"

अलोपीदीन ने जिस सहारे को चट्टान समझ रखा था, वह पैरों के नीचे खिसकता हुआ मालूम हुआ। स्वाभिमान और धन, ऐश्वर्य को कड़ी चोट लगी। किंतु अभी तक धन की सांख्यिक शक्ति का पूरा भरोसा था। अपने मुख्तार से बोलेः "लालाजी, एक हजार के नोट बाबू साहब को भेंट करो, आप इस समय भूखे सिंह हो रहे हैं।"

वंशीधर ने गरम होकर कहा, "एक हजार नहीं, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकते।"

धर्म की इस बुद्धिहीन दृढ़ता और देव-दुर्लभ त्याग पर मन बहुत झुंझलाया। अब दोनों शक्तियों में संग्राम होने लगा। धन ने उछल-उछल कर आक्रमण करने शुरू किए। एक से पांच, पांच से दस, दस से पंद्रह और पंद्रह से बीस हजार तक नौबत पहुंची, किंतु धर्म अलौकिक वीरता के साथ इस बहुसंख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भांति अटल, अविचलित खड़ा था।

अलोपीदीन निराश होकर बोले, "अब इससे अधिक मेरा आगे साहस नहीं। आपको अधिकार है।"

वंशीधर ने अपने जमादार को ललकारा। बदलूसिंह मन में दारोगाजी को गालियां देता हुआ पंडित अलोपीदीन की ओर बढ़ा। पंडितजी घबड़ाकर दो तीन कदम पीछे हट गए। अत्यंत दीनता से बोले, "बाबू साहब ईश्वर के लिए मुझ पर दया कीजिए, मैं पच्चीस हजार पर निपटारा करने को तैयार हूं।"

"असंभव बात है।" "तीस हजार पर।" "किसी तरह भी संभव नहीं?" क्या चालीस हजार पर भी नहीं? "चालीस हजार नहीं, चालीस लाख पर भी असंभव है।" "बदलूसिंह, इस आदमी को अभी हिरासत में ले लो। अब मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता।"

धर्म ने धन को पैरों तले कुचल डाला। अलोपीदीन ने एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को हथकड़ियां लिए हुए अपनी तरफ आते देखा। चारों ओर निराशा और कातर दृष्टि से देखने लगे। इसके बाद यकायक मूर्छित होकर गिर पड़े।

दुनिया सोती थी, पर दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे देखिए तो बालक-वृद्ध सबके मुंह से यही बात सुनाई देती थी। जिसे देखिए वहीं पंडितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था, निंदा की बौछारें हो रही थीं, मानों संसार से अब पापी का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज बनाने वाले सेठ और साहूकार– यह सब के सब देवताओं की भांति गर्दनें चला रहे थे।

जब दूसरे दिन पंडित अलोपीदीन अभियुक्त होकर कांस्टेबलों के साथ, हाथों में हथकड़ियां, हृदय में ग्लानि और क्षोभ भरे, लज्जा से गर्दन झुकाए अदालत की तरफ चले तो सारे शहर में हलचल मच गई। मेलों में कदाचित आंखें इतनी व्यग्र न होती होंगी। भीड़ के मारे छत और दीवार में कोई भेद न रहा।

किंतु अदालत में पहुंचने की देर थी। पंडित अलोपीदीन इस अगाध वन के सिंह थे। अधिकारी वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुख्तार उनके आज्ञा पालक और अरदली, चपरासी तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के गुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ से दौड़े। सभी लोग विस्मित हो रहे थे। इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने क्यों यह कर्म किया, बल्कि इसलिए कि वे कानून के पंजे में कैसे आए! ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करने वाला धन और अनन्य वाचालता हो, वह क्यों कानून के पंजे में आए। प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था।

बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त वकीलों की एक सेना तैयार की गई। अब न्याय के मैदान में धर्म और धन में युद्ध ठन गया। वंशीधर चुपचाप खड़े थे। उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई शस्त्र। गवाह थे, किंतु लोभ से डावांडोल।

यहां तक कि मुंशीजी को न्याय भी अपनी ओर से कुछ खिंचा हुआ दीख पड़ता था। वह न्याय का दरबार था, परंतु उसके कर्मचारियों पर पक्षपात का नशा छाया हुआ था। किंतु पक्षपात और न्याय का क्या मेल? जहां पक्षपात हो, वहां न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुकद्दमा शीघ्र ही समाप्त हो गया।

डिप्टी मजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज में लिखा, "पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिए गए प्रमाण निर्मूल और भ्रमात्मक हैं। वे एक बड़े भारी आदमी हैं। यह बात कल्पना के बाहर है कि उन्होंने थोड़े लाभ के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो। यद्यपि नमक के दारोगा मुंशी वंशीधर का अधिक दोष नहीं है, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उसकी उद्दंडता और विचारहीनता के कारण एक भले मानुस को कष्ट झेलना पड़ा। हम प्रसन्न हैं कि वह अपने काम में सजग और सचेत रहता है, किंतु नमक के मुकद्दमे की बढ़ी हुई नमक हलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। भविष्य में उसे होशियार रहना चाहिए।"

वकीलों ने यह फैसला सुना और उछल पड़े। पंडित अलोपीदीन मुसकराते हुए बाहर निकले। स्वजन बांधवों ने रुपयों की लूट की। उदारता का सागर उमड़ पड़ा। उसकी लहरों ने अदालत की नींव तक हिला दी। जब वंशीधर बाहर निकले तो चारों ओर से उनके ऊपर व्यंगबाणों की वर्षा होने लगी। चपरासियों ने झुक-झुक कर सलाम किए। किंतु इस समय एक-एक कटुवाक्य एक-एक संकेत उनकी गर्वाग्नि को प्रज्वलित कर रहा था। कदाचित इस मुकद्दमे में सफल होकर वे इस तरह अकड़ते हुए न चलते।

आज उन्हें संसार का एक खेदजनक विचित्र अनुभव हुआ। न्याय और विद्वत्ता, लंबी चौड़ी उपाधियां, बड़ी-बड़ी दाढ़ियां और ढीले चोगे– एक भी सच्चे आदर के पात्र नहीं हैं। वंशीधर ने धन से वैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था।

आज उन्हें संसार का एक खेदजनक विचित्र अनुभव हुआ। न्याय और विद्वत्ता, लंबी चौड़ी उपाधियां बड़ी-बड़ी दाढ़ियां और ढीले चोगे– एक भी सच्चे आदर के पात्र नहीं हैं। वंशीधर ने धन से वैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था। कठिनता से एक सप्ताह बीता होगा कि मुअत्तली का परवाना आ पहुंचा। कार्य परायणता का दंड मिला। बेचारे भग्न हृदय, शोक और खेद से व्यथित घर को चले।

बूढ़े मुंशीजी तो पहले ही से कुड़-बुड़ा रहे थे कि चलते-चलते इस लड़के को इतना समझाया था, लेकिन इसने एक न सुनी। सब मनमानी करता है। हम तो कलवार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बन कर बैठें और वहां बस वही सूखी तनख्वाह! हमने भी तो नौकरी की है और कोई ओहदेदार नहीं थे, लेकिन काम किया, दिल खोलकर किया और आप ईमानदार बनने चले हैं। पढ़ना-लिखना सब अकारथ गया।

इसके थोड़े ही दिनों बाद, जब मुंशी वंशीधर इस दुरवस्था में घर पहुंचे और बूढ़े पिताजी ने यह समाचार सुना तो सिर पीट लिया। बोले, जी चाहता है कि

तुम्हारा और अपना सिर फोड़ लूं। बहुत देर तक पछता-पछता कर हाथ मलते रहे। क्रोध में कुछ कठोर बातें भी कहीं और यदि वंशीधर वहां से टल न जाते तो अवश्य ही यह क्रोध विकट रूप धारण करता। वृद्धा माता को भी दुख हुआ। जगन्नाथ और रामेश्वर यात्रा की कामनाएं मिट्टी में मिल गईं। पत्नी ने तो कई दिन तक सीधे मुंह बात भी नहीं की।

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया। संध्या का समय था। बूढ़े मुंशीजी बैठे राम-नाम की माला जप रहे थे। इसी समय उनके द्वार पर सजा हुआ रथ आकर रुका। हरे और गुलाबी परदे, पछहिए बैलों की जोड़ी, उनकी गर्दनों में नीले धागे, सींग पीतल से जड़े हुए। कई नौकर लाठियां कंधों पर रखे साथ थे। मुंजीजी अगवानी को दौड़े। देखा तो पंडित अलोपीदीन हैं। झुक कर दंडवत की और लल्लो-चप्पो की बातें करने लगेः "हमारा भाग्य उदय हुआ, जो आपके चरण इस द्वार पर आए। आप हमारे पूज्य देवता हैं, आपको कौन-सा मुंह दिखावे, मुंह में तो कालिख लगी हुई है। किंतु क्या करें, लड़का अभागा कपूत है, नहीं तो आपसे क्यों मुंह छिपाना पड़ता? ईश्वर निस्संतान चाहे रखे, पर ऐसी संतान तो न दे।"

अलोपीदीन ने कहा– नहीं भाईसाहब, ऐसा न कहिए।

मुंशीजी ने चकित हो कर कहा– ऐसी संतान को और क्या कहूं?

अलोपीदीन ने वात्सल्यपूर्ण स्वर में कहा– कुलतिलक और पुरुषों की कीर्ति उज्ज्वल करने वाले संसार में ऐसे कितने धर्मपरायण मनुष्य हैं जो धर्म पर अपना सब कुछ अर्पण कर सकें?

वंशीधर ने अलोपीदीन को आते देखा था तो उठकर सत्कार भी किया था। किंतु स्वाभिमान सहित। समझ गए थे कि यह महाशय मुझे लज्जित करने और जलाने आए हैं। क्षमा-प्रार्थना की चेष्टा नहीं की । वरन उन्हें अपने पिता की यह ठकुरसुहाती की बात असह्य-सी प्रतीत हुई थी। पर पंडितजी की बातें सुनीं तो मन का मैल मिट गया।

पंडित अलोपीदीन ने वंशीधर से कहा– "दारोगाजी, इसे खुशामद न समझिए, खुशामद करने के लिए मुझे इतना कष्ट उठाने की जरूरत न थी। उस रात को आपने अपने अधिकार-बल से मुझे अपनी हिरासत में लिया था, किंतु आज मैं स्वेच्छा से आपकी हिरासत में आया हूं। मैंने हजारों रईस और अमीर देखे, हजारों उच्च पदाधिकारियों से काम पड़ा। मैंने सबको अपना और अपने धन का गुलाम बना कर छोड़ दिया। किंतु मुझे परास्त किया तो आपने। मुझे आज्ञा दीजिए कि आपसे कुछ विनय करूं।"

वंशीधर ने पंडितजी की ओर उड़ी हुई दृष्टि से देखा। सद्भाव झलक रहा था। गर्व ने अब लज्जा के सामने सिर झुका दिया। शर्माते हुए बोले– "यह आपकी उदारता है जो ऐसे कहते हैं। मुझसे जो कुछ अविनय हुई है, उसे क्षमा

कीजिए। मैं धर्म की बेड़ी में जकड़ा हुआ था, नहीं तो वैसे मैं आपका दास हूं। जो आज्ञा होगी, वह मेरे सिर-माथे पर।"

अलोपीदीन ने विनीत भाव से कहा– "नदी-तट पर आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की थी, किंतु आज स्वीकार करनी पड़ेगी।"

वंशीधर बोले– "मैं किस योग्य हूं, किंतु जो कुछ सेवा मुझसे हो सकती है उसमें त्रुटि न होगी।"

अलोपीदीन ने स्टाम्प लगा हुआ एक पत्र निकाला और उसे वंशीधर के सामने रखकर बोले– "इस पद को स्वीकार कीजिए और अपने हस्ताक्षर कर दीजिए। मैं ब्राह्मण हूं, जब तक यह सवाल पूरा न कीजिएगा, द्वार से न हटूंगा।

मुशी वंशीधर ने उस कागज को पढ़ा। आंखों में आंसू भर आए। पंडित अलोपीदीन ने उनको अपनी सारी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियत किया था। छह हजार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोजाना खर्च अलग, सवारी के लिए घोड़े, रहने को बंगला, नौकर-चाकर मुफ्त। कंपित स्वर में बोले– पंडितजी, मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि आपकी उदारता की प्रशंसा कर सकूं! किंतु मैं ऐसे उच्च पद के योग्य नहीं हूं।

अलोपीदीन हंस कर बोले– "मुझे इस समय एक अयोग्य मनुष्य की ही जरूरत है।"

वंशीधर ने गंभीर भाव से कहा– "यों मैं आपका दास हूं। आप जैसे कीर्तिवान, सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है। किंतु मुझमें न विद्या है, न बुद्धि, न वह स्वभाव जो इन त्रुटियों की पूर्ति कर देता है। ऐसे महान कार्य के लिए एक बड़े मर्मज्ञ अनुभवी मनुष्य की जरूरत है।"

अलोपीदीन ने कलमदान से कलम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बोलेः "न मुझे विद्वता की चाह है, न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्य कुशलता की। इन गुणों के महत्व का परिचय खूब पा चुका हूं। अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है, जिसके सामने योग्यता और विद्वता की चमक फीकी पड़ जाती है। यह कलम लीजिए, अधिक सोच-विचार न कीजिए, दस्तखत कर दीजिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दंड, कठोर परंतु धर्मनिष्ठ दारोगा बनाए रखे!"

वंशीधर की आंखें डबडबा आईं। हृदय के संकुचित पात्र में इतना एहसान न समा सका। एक बार फिर पंडितजी की ओर भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखा और कांपते हुए हाथ से मैनेजरी के कागज पर हस्ताक्षर कर दिए।

अलोपीदीन ने प्रफुल्लित होकर उन्हें गले लगा लिया।

*

पोथी पढ़ि पढ़ि

विनाश की ओर बढ़ता विकास

प्रभाष जोशी

कल मैं पटना से चला। वो हफ्ते में दो दिन चलने वाली गाड़ी है, इसलिए उसमें ज्यादा भीड़ नहीं थी। मैं जाकर अपनी जगह पर बैठा। सामने एक विदेशी लेटे हुए थे। थोड़ी दूर गाड़ी आगे निकली। उन्होंने देखा कि उस डिब्बे में बैठे हुए लोग आकर मेरे दस्तखत लेने की कोशिश कर रहे हैं, मुझसे बात कर रहे हैं। उनको लगा कि ऐसे लेटे रहना शायद ठीक नहीं है। उन्होंने उठकर किसी से जाकर बात की होगी कि ये कौन हैं। फिर उन्होंने मुझसे माफी मांगी और कहा कि मैं इतनी देर पैर पसारे आपके सामने इस तरह से लेटा हुआ हूं तो ये मैं असभ्यता कर रहा था। मुझे बहुत अच्छा लग रहा है कि मैं आज आपके साथ यात्रा कर रहा हूं।

वे जर्मनी के पत्रकार थे। एक साल की छुट्टी लेकर दुनिया घूमने के लिए निकले हुए हैं। अभी वो बिलकुल चले आ रहे थे चीन से। वे चीन से नेपाल आए और नेपाल से दार्जिलिंग आए और दार्जिलिंग से बस पकड़कर पटना। पटना स्टेशन के बाहर भोजन वगैरह करके बहुत थके हुए थे, इसलिए लेट गए होंगे। जवान आदमी, ठीक बात कर रहे थे। पूछा कि आप क्यों जा रहे हैं वहां। मैंने बताया कि वहां सर्व सेवा संघ में आधुनिक सभ्यता के संकट पर 'हिन्द स्वराज' की चर्चा है। जर्मनी के किसी प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में पढ़े अच्छे पत्रकार थे वे। उन्होंने कहा कि हां संकट तो सही है लेकिन आप हम क्या कर लेंगे। सारी दुनिया तो उसी तरफ दौड़ कर जाना चाहती है। सारे लोग ये चाहते हैं कि उनका जीवन स्तर वैसा ही हो जाए जैसा कि अमेरिका के लोगों का है।

हम भूल जाते हैं कि अमेरिका में दुनिया के सिर्फ 6 प्रतिशत लोग रहते हैं और वो दुनिया के 70-80 प्रतिशत संसाधनों का उपयोग करते हैं। और इसलिए

अगर दुनिया के 100 प्रतिशत लोग उसी जीवन स्तर की मांग करने लगे तो दुनिया में कुछ बचने वाला नहीं है। किसी के लिए कुछ नहीं बचेगा। वो कहने लगे कि ये तो आप बिलकुल ठीक कहते हैं लेकिन मैं अभी चीन से आ रहा हूं। इंडोनेशिया गया था। मैं देखता हूं कि सब तरफ लोग वही चाहते हैं। सबको ये लगता है कि हमारा ऊंचा से ऊंचा जीवन का स्तर हो और हम उतना ही उपभोग करें जितना कि अमेरिकी लोग कर रहे हैं तो ही हमको सुख मिलेगा। तो मैंने कहा कि ये जो लोगों के मन में इच्छा है, ये तो सही है और जिनकी समझ में आता है उनकी भी यही इच्छा है कि किसी तरह से हम ज्यादा-से ज्यादा पा सकें।

हमारे देश के 84 करोड़ लोग रोज सिर्फ 6 रुपए से लेकर 20 रुपए प्राप्त करते हैं। कुछ तीसेक करोड़ लोगों को मालूम नहीं है कि उनका अगला भोजन कहां से आएगा और बीसेक करोड़ लोग ऐसे हैं जिनको दोनों समय का खाना कहां से मिलेगा, इसका कोई अंदाजा उनको नहीं है। फिर तो ये कैसे हुआ कि हम लोग इतनी आर्थिक प्रगति कर रहे हैं। जिस शहर में देखें, उस शहर में बड़े-बड़े मॉल खुल रहे हैं। बड़े-बड़े पार्क बनाए जा रहे हैं। जिसे देखो वो कार खरीदना चाहता है, रास्ते में जगह नहीं है। हमारा मध्यम वर्ग जो सपना देख रहा था, वो पूरा हो गया। यानी सबको गाड़ी मिले, सबको पेट्रोल भराने के लिए पैसा हो, वो हो गया। तो अब रास्ते में इतनी गाड़ियां हो गई हैं कि कोई भी गाड़ी समय पर नहीं पहुंच पाती है। सिर्फ अपनी दिल्ली में ये हाल हो रहा हो या आपके अपने बनारस में हो ये बात नहीं है। अमेरिका में और यूरोप के देशों में लोग 5 दिन खूब जमके काम करते हैं, सब 9 बजे से शाम के 6 बजे तक। और हफ्ते में 2 दिन छुट्टी मनाना चाहते हैं। शनिवार को, रविवार को। तो शुक्रवार की रात को सड़क इतनी ठसाठस भरी होती है कि लोग अपने घर या तो बहुत देर से पहुंचते हैं या कई लोग सिर्फ शनिवार को पहुंचते हैं। कई लोग छुट्टी मनाने के लिए समुद्र के किनारे जाते हैं जब छुट्टी खत्म हो रही हो तो वो समुद्र के किनारे पहुंच पाते हैं, क्योंकि रास्ते में इतनी गाड़ियां खड़ी हुई हैं। जो छुट्टी का समय था वो गाड़ी में बिताया, और गाड़ी में अच्छी तरह से आपका समय कट सके इसके लिए उसमें रेडियो भी है,

हमारे देश के 84 करोड़ लोग रोज सिर्फ 6 रुपए से लेकर 20 रुपए प्राप्त करते हैं। कुछ तीसेक करोड़ लोगों को मालूम नहीं है कि उनका अगला भोजन कहां से आएगा और बीसेक करोड़ लोग ऐसे हैं जिनको दोनों समय का खाना कहां से मिलेगा, इसका कोई अंदाजा उनको नहीं है। फिर तो ये कैसे हुआ कि हम लोग इतनी आर्थिक प्रगति कर रहे हैं।

उसमें टी.वी. भी है, उसमें संगीत भी है। सब चीजें जिनमें मन लगा रहे, वो देखने के लिए वहां हैं। क्योंकि पता नहीं ट्रैफिक में फंस गए तो कितना समय लगेगा। तो क्या करेंगे? तो वहां टेलीफोन भी है, मोबाईल भी है, सब कुछ। उन्होंने प्रतीक्षा करने के लिए गाड़ी में वो सब चीजें इकट्ठी कर रखी हैं जो उनके दफ्तर में हैं या उनके घर में हैं।

अब सब जानते हैं कि ये जीवन ऐसा होता जा रहा है। इसके बावजूद सब लोगों की समस्या ये है कि हमको वो जीवन मिल जाए। अब आप देखो कि इस साल आधे हिंदुस्तान में पानी नहीं गिरा और सबसे बड़ी समस्या ये है कि हमारे आगे की फसल का क्या होगा? खरीफ बिगड़ गई तो अब रबी का क्या होगा? ये लोगों की चिंता है। लेकिन अखबार उठाकर देखो तो उनकी सबसे बड़ी चिंता ये है कि हमारा विकास कितने प्रतिशत होने वाला है। वो 6 प्रतिशत ग्रोथ हो रही है, ये डबल डिजिट में कब चली जाए। यानी 10-11 प्रतिशत में कब चली जाए। सारे पैसे वालों की चिंता ये है कि पैसा जल्दी से बढ़ना चाहिए। उनको ये चिंता नहीं है कि ये पैसा दूसरों के पास जा रहा है या नहीं। और अगर देश में अकाल पड़ा हुआ है और उससे हमारी ग्रोथ रेट नीचे गिर रही है तो आज के और कल के भोजन का जिनका इंतजाम नहीं है, उनके हाल क्या हो रहे होंगे? जिस देश के 85 प्रतिशत लोगों को मालूम नहीं है कि उनके अगले जून के भोजन का क्या होगा, तो वो देश कैसे सुपर पावर हो सकता है? वो जो 15 प्रतिशत या 10 प्रतिशत लोग हैं, वो अगर 15 प्रतिशत की रेट से भी आगे बढ़ें तो उन 85 प्रतिशत लोगों का तो कुछ नहीं होगा और अगर एक घर में रहने वाले 85 लोग भूखे मर रहे हैं और 15 लबालब हो रहे हैं तो वो घर तो ऊपर नहीं उठ सकता है। इसलिए मैंने उस जर्मन पत्रकार को कहा कि इस देश में मेरे जैसे अंग्रेजी बोलने वाले और अंग्रेजी के जरिए अपना कामकाज चलाने वाले लोग बिचारे वैसे ही हो गए हैं जैसे 100 साल पहले अंग्रेज हम पर राज करते हुए हो रहे थे। उनकी व्यवस्था में जो भी कुछ पैसा देश में बन रहा था, वो अंग्रेजों

अंग्रेजी बोलने वाले और अंग्रेजी के जरिए अपना कामकाज चलाने वाले लोग बिचारे वैसे ही हो गए हैं जैसे 100 साल पहले अंग्रेज हम पर राज करते हुए हो रहे थे। उनकी व्यवस्था में जो भी कुछ पैसा देश में बन रहा था, वो अंग्रेजों के पास जाता था। आज हमारी व्यवस्था में ये पैसा हमारे पास आ जाता है। हमारे देश में एक प्रकार का साम्राज्यवाद, एक प्रकार की गुलामी भी वैसी ही चलती आ रही है, जैसी कि अंग्रेजों के जमाने में थी।

के पास जाता था। आज हमारी व्यवस्था में ये पैसा हमारे पास आ जाता है। हमारे देश में एक प्रकार का साम्राज्यवाद, एक प्रकार की गुलामी भी वैसी ही चलती आ रही है, जैसी कि अंग्रेजों के जमाने में थी।

इसलिए महात्मा गांधी जो 'हिन्द स्वराज' में कह रहे थे, वो सिर्फ देश की आजादी के लिए तो कह नहीं रहे थे। आजादी तो एक राजनीतिक बात है। वे स्वराज की बात कर रहे थे और स्वराज का मतलब ये कि इस देश का हर एक आदमी अपने जीवन के लिए किसी और पर निर्भर न करे, उसका अपने ऊपर राज हो। जो आदमी बाहर की जितनी चीजों पर जितना कम आश्रित होगा, जितना कम आधारित होगा, उतना ही वो ज्यादा स्वतंत्र और उतना ही वो ज्यादा स्वराज वाला आदमी है। हमारे यहां कबीर का एक पद ये साधु लोग घूम-घूमकर गाया करते थे। उसमें एक पंक्ति है– हाथ में तुंबा, बगल में सोटा चारों खूंट जागीरी में। मन लाग्यो मेरो यार फकीरी में। ये फकीर गरीब नहीं है। वो कहता है कि मेरे हाथ में तुंबा है और बगल में सोटा है और चारों खूंट यानी चारों दिशाएं मेरी जागीरी में हैं, क्योंकि मैं फकीर हूं। मुझे किसी बात की कोई जरूरत नहीं है।

ये तो रवैये का सवाल है। आप करोड़ों रुपए जमा लें या खरबों रुपए जमा लें फिर भी आपको और रुपयों की हमेशा जरूरत होगी। सबसे ज्यादा जरूरत उसी को होती है जो करोड़ों रुपए कमाता है। और वो जो फकीर है, वो कहता है कि अगर ये दो मुझे मिल गए तो मैं फकीरी में गाता हुआ चला जाऊंगा। मुझे किसी चीज की कोई जरूरत नहीं है। स्वराज तो उसके पास है, क्योंकि उसको किसी चीज पर निर्भर नहीं करना है। आप अपना घर भी चलाएं तो आप ऐसी फकीरी में जी सकते हैं। कबीर ने कहा कि साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय। मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाए। ये जर्मन पत्रकार कह रहा था, जिसने सारी दुनिया देखी है और हम मुंबई में देखते हैं, दिल्ली में देखते हैं, बनारस में देखते हैं, कि जहां थोड़ी सभ्यता आई है, वहां भागदौड़ है, वहां और चीजों की जरूरत है। चीजों पर निर्भरता है, और स्वराज नहीं है।

गांधीजी को ये चीज बहुत पहले समझ में आ गई थी। ये किताब तो 1909 में लिखी उन्होंने। 1909 के पहले 19वीं शताब्दी में ही वो चले गए थे दक्षिण अफ्रीका रहने के लिए सन् 1893 में। गांधीजी को यह समझ में आया कि ये झगड़ा मामूली नहीं है। ये झगड़ा तो अपनी जीवन पद्धतियों का झगड़ा है। यूरोप के लोगों को ये डर है कि अगर हमने भारतीयों की बातें माननी चालू कीं तो हम अपनी सभ्यता को नष्ट कर देंगे। ये लोग हमको गुलाम बनाकर इसलिए नहीं रखना चाहते हैं कि हम कमतर या कम सभ्य या कम समझदार लोग हैं। बल्कि

ये अपनी सभ्यता को बेहतर मानकर हम पर लादना चाहते हैं। इनके मन में डर है कि कहीं हम फकीरी के रास्ते पर गए तो हम अपने को बरबाद कर लेंगे।

गए साल 15 सितंबर को जहां दुनिया की सबसे ज्यादा दौलत अमेरिका में रहा करती थी, वॉलस्ट्रीट में, वहां का दिवाला निकल गया। बड़ी-बड़ी यानी कुबेर कंपनी जैसे लेहमैन ब्रदर्स, जिनके पास कितना पैसा है ये भी किसे को ठीक मालूम नहीं था, उनका दिवाला निकल गया। उनके सबसे बड़े अफसर से पूछा गया था कि भाई अभी पिछले हफ्ते तो आप भाषण दे रहे थे कि हम बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहे हैं और अब आप कह रहे हैं कि हमको तो पहले से ही मालूम था कि ये बुलबुला किसी भी दिन फूट जाएगा तो फिर सात दिन पहले क्यों कह रहे थे? उन्होंने कहा कि सात दिन पहले इसलिए कह रहे थे कि अगर हम उसी दिन ये बात कह देते तो जो संकट आज आया है वो सात दिन पहले ही आ जाता! हम तो लोगों का विश्वास बनाए रखने के लिए, दुनिया को टिकाए रखने के लिए झूठ बोल रहे थे, विचारों का संसार बना रहे, इसलिए उनको झूठ बोलकर काम चलाना पड़ता है।

स्वराज का मतलब ये कि इस देश का हर एक आदमी अपने जीवन के लिए किसी और पर निर्भर न करे, उसका अपने ऊपर राज हो। जो आदमी बाहर की जितनी चीजों पर जितना कम आश्रित होगा, जितना कम आधरित होगा, उतना ही वो ज्यादा स्वतंत्र और उतना ही वो ज्यादा स्वराज वाला आदमी है।

एक विज्ञापन आप सब लोगों ने देखा होगा। ये जो तीन बड़ी कंपनियां थीं जिनका दिवाला निकला, उसमें एक ए.आई.जी. कंपनी थी। ए.आई.जी. दुनिया की सबसे बड़ी बीमा कंपनी थी। बहुत पैसा था उन लोगों के पास। उनका अपने टाटावालों से समझौता था। टाटा और ए.आई.जी. मिलकर अपने देश में बीमा कंपनी चला रहे थे। विज्ञापन ये था कि मुंबई में एक बिचारी बूढ़ी, पारसी मां, अपने सामान दोनों हाथ में लिए हुए किसी तरह से चलती हुई घर जा रही है। एक बच्चा उसको देखता है। वह लपक कर जाता है और झोला उसके हाथ में से ले लेता है। मां उसको बड़े प्रेम से देखती है। बच्चा झोला लेकर मां के साथ घर पहुंचता है। जब वह सामान रख कर जाने लगता है वह मां कहती है ऐ रुक! अपने बटुए में एक रुपया निकाल कर उसको देती है। उसको कहती है ये तेरे लिए है, हां ये तेरे लिए है। बच्चा उस रुपए को अपनी मुट्ठी में पकड़ दौड़ा हुआ अपने पिता के दफ्तर में जाता है। बहुत बड़ा दफ्तर है, वह दरवाजा खटखटाता है। उसका पिता जो उस वक्त बड़े-बड़े लोगों से बात कर रहा है, उठकर बाहर आता है। बड़ी चिंता में कि ये

लड़का कैसे आया अभी यहां। लड़का हंस के कहता है कि कुछ नहीं। मेरी पहली सैलरी। अपनी मुट्ठी खोलकर वो रुपया उसको देता है। बाप उस रुपए को उठाता है। ए.आई.जी. वालों की लाइन चलती है– हमको आपके एक-एक पैसे की कद्र है, हमारे यहां आप इन्वेस्ट करिए। उसी ए.आई.जी. कंपनी का झूठे कर्ज देकर झूठी कमाई करने के कारण अमेरिका में दिवाला निकल गया। और अगर बैंक ऑफ अमेरिका उसका टेक ओवर नहीं करता तो करोड़ों लोगों की उम्र भर की जो कमाई है, वो डुबो देता।

ये विज्ञापन पहले तो इस देश की एक मां के वात्सल्य का मजाक उड़ाता है। दूसरा उस बच्चे के वात्सल्य का भी। अपने यहां बच्चों को कहा जाता है कि अगर कहीं कोई बूढ़ा आदमी कुछ थक रहा हो, तत्काल जा के उसकी मदद कर। सब मांएं अपने बच्चों को ये कहती हैं कि दादा-दादी को देख, उनकी सेवा कर। सब बोलियों में एक कहावत है। हमारे मालवा में कहते हैं बांट-चूटकर खाना, बैकुंठ में जाना। एक घर में पति-पत्नी और दो-तीन बच्चे साथ रह रहे हैं, एक टेलीविजन से काम चला रहे हैं तो कंपनी का एक ही टेलीविजन खरीदा जाएगा। अगर ज्यादा-से-ज्यादा टेलीविजन बेचना है तो घरों को तोड़ो। जितने छोटे-छोटे घर होंगे, उतने ज्यादा-से-ज्यादा टेलीविजन खरीदे जाएंगे।

तो हम ऐसी दुनिया बनाना चाहते हैं, जिसका हमारी जरूरत और उस जरूरत के पूरी होने से कोई संबंध नहीं है। उसका संबंध चीजों का ज्यादा-से-ज्यादा उत्पादन करने और ज्यादा-से-ज्यादा खपत करने के लिए है। मैं ज्यादा-से-ज्यादा खपत कर सकूं, इसलिए ज्यादा-से-ज्यादा पैसा चाहिए। ज्यादा-से-ज्यादा पैसा चाहने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा बड़ी नौकरी। ज्यादा-से-ज्यादा बड़ी नौकरी तो वहीं मिल सकती है जहां करोड़ों का धन है। और करोड़ों का सच्चा धन नहीं हो तो शेयर मार्केट से नकली धन पैदा करो। आई.आई.एम. अहमदाबाद में पढ़ने वालों की गए साल तक तनख्वाह करोड़ों रुपए तक जाती थी। अब कोई लाख रुपए में भी नहीं पूछ रहा बिचारों को। क्योंकि दुनिया का पैसा खत्म हो गया। खत्म क्यों हुआ? क्योंकि वो तो नकली पैसा था। एक डॉलर एक बार नहीं 26 बार गिरवी रख दिया गया और उस डॉलर से और लोगों ने पैसे बनाए। जो उन्होंने पैसे बनाए, वो भी गलत।

आज हम ये सब देख रहे हैं और फिर भी हमको इसकी सच्चाई कबूल करके दूसरा जीवन जीने की इच्छा नहीं होती। और उस गांधी नाम के आदमी को 100 साल पहले ये समझ में आ गया था कि अगर इस तरह से दुनिया चली तो ये तो अपने आपको नष्ट करेगी। तो जो सभ्यता दुनिया के हर कोने में थी और जब उसका सबसे ज्यादा दबदबा था, तब गांधीजी ने कहा कि ये शैतानों

की सभ्यता है। ये एक दिन अपने आपको नष्ट करेगी। ये दोनों के दोनों वाक्य आपको हिन्द स्वराज में मिल जाएंगे। दुनिया की सबसे बड़ी चिंता क्या है? सबसे बड़ी चिंता ये है कि हमने इतना प्रदूषण पैदा कर दिया है कि हमारी समुद्र की सतह पर जो गर्मी रहा करती थी, वो बढ़ रही है और गर्मी बढ़ने के कारण जो हवाएं ठीक से चलनी चाहिए, उसमें विघ्न पड़ गया है। उस विघ्न का भी नाम उन्होंने अलनीनो इफेक्ट कह रखा है। उसके कारण से जो बिचारे बादल आ रहे थे, वे बीच में रुक गए और बाकी के लौट गए बेचारे। अगर बादलों को हवा नहीं ले के आएगी, तो बादलों के पांव तो कोई होते नहीं हैं। अपने आप तो वो चल कर आ नहीं सकते हैं। उनको हवाएं ही लाएंगी। और वो हवाएं अगर गड़बड़ हो गई हैं, तो क्या होगा? कल रात को आप लोगों ने गंगा के घाट पर देव दीपावली मनाई। ये जानकर अपनी रूह कांप जाती है, अपनी आत्मा कांप जाती है कि 20 साल के बाद ये गंगा यहां नहीं रहेगी। इस गंगा में पानी नहीं रहेगा। गंगोत्री का ग्लेशियर है, जिससे गंगा का पानी आता है वो लगातार पीछे खिसकता जा रहा है और अगर तापमान बढ़ता जाए तो वो ग्लेशियर पिघल जाएगा। ग्लेशियर पिघल गया तो गंगा नदी नहीं रहेगी।

गंगा नदी नहीं रहेगी तो हमारी बोली का क्या होगा, हमारे देवताओं का क्या होगा, हमारे पुराणों का क्या होगा? जरा सोचिए। और ये भी सोच लीजिए कि आपके नगर के आगे जो इलाहाबाद शहर है, उसमें गंगा और यमुना तो मिलती हैं लेकिन उसको त्रिवेणी इसलिए कहते हैं कि उसमें सरस्वती नीचे से आकर मिल गई है। वेदों में तो सरस्वती नदी का वर्णन है। सरस्वती कहां गई? सरस्वती जो हिमालय के किसी उपत्यका से निकली थी और पंजाब, सिंध से बहती हुई किसी दिन ये जो भरुच है न आगे, वहां जाकर खाड़ी में गिरती थी। ऐसी पश्चिम से बहने वाली नदी थी। उस सरस्वती नदी के किनारे वेद की ऋचाएं लिखी गईं। वह नदी ही गायब हो गई।

गुजराती में जो शब्द लाशों के किले के लिए है, वो सिंधी भाषा में मोहनजोदड़ो है। कबीर के पद में एक पंक्ति है– साधो यह मुर्दों का गांव। जब चीजें सबकी सब बरबाद हो जाएंगी तो आप क्या करोगे? ये गंगा सरस्वती की तरह सूख जाएगी। आप और हम देखने के लिए नहीं होंगे। हमारे बेटों के बेटों के बेटे पढ़ेंगे और सुनेंगे कि किसी ने कहा था कि गंगा मइया तोहे पियरिया चढ़इबो। लोकगीत सिर्फ याद में रह जाएगा। गंगा नदी नहीं रहेगी। अपनी एक पूरी सभ्यता, अपना एक पूरा लोक जीवन, अपने पूरे पुराण, सारी की सारी अपनी कहानियां, सब की सब नष्ट हो जाएंगी। और ये हमारे करने से होगा। जितना हम पेट्रोल जलाते हैं, उतनी ही ग्रीन हाउस गैसें बनती हैं, उससे ही दुनिया का

तापमान बढ़ता है। अमेरिका वाले ये कहना चाहते हैं कि हम तो अपनी जिंदगी को ज्यादा नहीं बदल सकते हैं, तुम हिंदुस्तानी अभी उस जिंदगी में नहीं पड़े हो, तो तुम उसमें मत पड़ो। प्रदूषण हम तो नहीं घटा सकते हैं, अब तुम दुनिया का प्रदूषण घटाने में हमारी मदद करो। तुम उस तेजी से विकास मत करो, तुम उस तेजी से चीजों को भोगो मत जो हमने किया है।

लोगों को लगता है कि ये तो अमेरिका जबर्दस्ती कर रहा है हम पर। वो तो सारी दुनिया की चीजें भोग रहा है और हमसे कहता है कि मत भोगो क्योंकि पर्यावरण बिगड़ेगा। इन अमीर मुल्कों पर पहले पाबंदी लगनी चाहिए। ये अपनी खपत कम करें। पर वो कहते हैं कि आप और सब बात कर लीजिए। हमारी जीवन पद्धति बदलने के बारे में हमसे बात मत करिए: अमेरिकन वे ऑफ लाइफ इज नॉट निगोशिएबल। उस पर कोई बातचीत नहीं कर सकते हैं हम। वो तो वैसे ही रहेगी, जैसी है। हम वैसे ही विकसित और ज्यादा चीजों को भोगने वाले बने रहें। इसलिए तुम अपनी गरीबी में या कम चीजों में गुजारा करो।

गांधीजी ने ये अवस्था बहुत पहले देखी थी। इसलिए उन्होंने कहा कि ये सभ्यता शैतान की सभ्यता है। ये अपने आपको नष्ट करेगी। गांधीजी कोई पश्चिम की सभ्यता के खिलाफ नहीं थे। उन्हें यूरोप से भी कोई दिक्कत नहीं थी। उनको दिक्कत मशीन वाली सभ्यता से थी। मशीन जितना पैदा करती है, 1000 आदमी बिचारे लगे तो उतना पैदा नहीं कर सकते। तो एक मशीन लगती है तो 1000 आदमी तो बेकार हो जाते हैं और उससे जो उत्पन्न होता है उसको बेचने वाला सारा पैसा खुद बटोर लेता है। मशीन के कारण पूंजीवाद आता है और मशीन के कारण ही बेरोजगारी बढ़ती है। अब बेरोजगारी और मशीन साथ में चलती है। अर्जुन सेनगुप्ता ने अपनी दूसरी रिपोर्ट में कहा है कि आजादी के समय जितने लोग बेकार थे उतने तो अब भी हैं, जितने प्रतिशत उस समय बेकार थे, अब उतने प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हो गई है। कुल मिलाकर बेरोजगारी बढ़ी है। जितने भी ज्यादा-से-ज्यादा पैसा बनाने वाले लोग हैं, ये खुद कहते हैं कि हमारी ग्रोथ तो जॉबलेस ग्रोथ है। यानी हमारा जो इतनी तेजी से ये आर्थिक विकास हो रहा है, उससे रोजगार नहीं बढ़ेगा। रोजगार घटेगा, पर पैसा बढ़ जाएगा। फिर यह पैसा धीरे-धीरे रिसकर नीचे वाले लोगों तक पहुंचेगा। इसलिए अमीरी बढ़ने दो ताकि गरीबी घट सके। जब पैसा आएगा, तभी तो वो नीचे जाएगा, दूसरे लोगों को मिलेगा। विनोबा को भी पहली योजना के लिए नेहरुजी ने बुलाया था। पवनार आश्रम, वर्धा से पैदल चलकर विनोबा दिल्ली आए अपने साथियों के साथ। तीन दिन तक उन्होंने योजना आयोग में बैठक में मगजपच्ची की। और जब उनको सब समझ में आ गया तो उन्होंने कहा कि देखिए आपकी सारी की

सारी योजना तो रिसन के सिद्धांत पर है। ये रिसकर नीचे कभी भी नहीं पहुंचेगी। इसलिए बाबा का जय जगत। ऐसा करके उनने हाथ जोड़ अपने साथियों को लिया और फिर वापस पवनार चले गए।

रामकृष्ण हेगड़े जब योजना आयोग के उपाध्यक्ष बने तो उन्होंने योजना बनाकर हम कुछ संपादकों को खाने पर बुलाया। बहुत अच्छा खाना था और योजना भी बहुत अच्छी थी। मैंने रामकृष्ण हेगड़े को कहा कि विनोबा भी यहां आए थे और उनको पहली योजना बताई गई थी तो उन्होंने कहा था कि ये रिसकर नीचे तक नहीं जाएगी। इसलिए बाबा का जय जगत। तो वैसी ही ये योजना है। वो मेरी तरफ देखते रहे और उनकी आंखें भर आईं। कहने लगे कि जो जवान लड़के विनोबा के साथ पवनार से चलकर दिल्ली आए थे, उनमें एक मैं भी था! मैंने खुद विनोबा को वो बातें कहते हुए देखा था। और मैं जानता हूं कि जो योजना बनाकर मैंने देश के सामने रखी है, वो वैसी की वैसी ही योजना है। लेकिन आप ये बताइए कि इस योजना के अलावा कौन-सी योजना देश चाहता है? उस आदमी में वही निराशा, वही हताशा थी जो कल जर्मन पत्रकार गाड़ी में मुझे बता रहा था। दुनिया सब सच्चाई जानती है फिर भी उधर ही जाना चाहती है। आपके हमारे कहने से थोड़ी जाती है? रिसन का सिद्धांत ऐसा है कि जिनका अमीरी का तालाब भर जाता है, वो तालाब के नीचे सीमेंट लगा देते हैं जो पानी पड़ते ही जम जाता है अच्छी तरह से। ताकि ऊपर का रिसकर कुछ भी नीचे न आए।

रामकृष्ण हेगड़े जब योजना आयोग के उपध्यक्ष बने तो उन्होंने योजना बनाकर हम कुछ संपादकों को खाने पर बुलाया। बहुत अच्छा खाना था और योजना भी बहुत अच्छी थी। मैंने रामकृष्ण हेगड़े को कहा कि विनोबा भी यहां आए थे और उनको पहली योजना बताई गई थी तो उन्होंने कहा था कि ये रिसकर नीचे तक नहीं जाएगी। इसलिए बाबा का जय जगत। तो वैसी ही ये योजना है। वो मेरी तरफ देखते रहे और उनकी आंखें भर आईं। कहने लगे कि जो जवान लड़के विनोबा के साथ पवनार से चलकर दिल्ली आए थे, उनमें एक मैं भी था!

अब जो व्यवस्था हम बना रहे हैं, उसमें असमानता यानी किसी का करोड़पति और खरबपति होना, और किसी का गरीब होना अनिवार्य है। हम ऐसी सभ्यता बनाना चाहते हैं, जिसमें एक कुबेर है और बाकी गरीब हैं। हम ऐसी सभ्यता बनाना चाहते हैं कि जिसमें हमारे सिर पर ओसामा बिना लादेन का और एल.टी.टी.ई. का और सारे आतंकवादियों का डर हमेशा बना रहे।

तो आखिर अपने लोगों, अपने संसाधन, अपना जीवन बचाने के लिए हम क्या करेंगे? मैंने शुरू में कहा कि उस जर्मन को मैंने कहा कि 10 प्रतिशत अंग्रेजों की जगह हम 10 प्रतिशत अंग्रेजी समझने वाले, उद्योग समझने वाले, व्यापार को समझने वाले लोग इस देश पर उसी तरह राज कर रहे हैं, जिस तरह से अंग्रेज लोग करते थे। इसलिए गांधी की 'हिन्द स्वराज' किताब उठाओ। एक और 'हिन्द स्वराज' लिखने की जरूरत है। अंग्रेजों के खिलाफ हम सत्याग्रह, असहयोग कर सकते थे। जो अपने ही घर के लोग हैं, जो अपने ही पढ़ाए हुए लोग हैं, जो अपने ही वोट से दिल्ली जाकर बैठे हुए लोग हैं, उन लोगों से अगर लड़ना हो तो कैसे लड़ेंगे, ये 'हिन्द स्वराज' का संदेश है और ये 'हिन्द स्वराज' इसलिए जरूरी है कि सभ्यता, जिसके पीछे हम जाना चाहते हैं उसको अगर हम अपनाते रहे तो गंगा नदी का क्या होगा, गंगोत्री का क्या होगा, हमारे शहरों और हमारे गांवों का क्या होगा, इसका विचार कर लीजिए। और इसलिए 'हिन्द स्वराज' पढ़ने की जरूरत है, सिर्फ इसलिए नहीं कि 1909 में 13 से 22 नवंबर के 10 दिनों में महात्मा गांधी ने जहाज पर, जहाज के ही कागज पर इसे लिखा। वो इतने बुरी तरह भरे हुए थे कि जब दाहिना हाथ लिखते-लिखते दुखने लगता था तो वो उल्टे हाथ से लिखने लगते थे। उस किताब के 40 पेज उन्होंने उल्टे हाथ से लिखे हैं। और उनकी हस्तलिपि में जो पुस्तक छपी है, उसके जो सबसे अच्छी लिखावट के पन्ने हैं, वो उल्टे हाथ से लिखे हुए हैं। यह मात्र शताब्दी मनाने की किताब नहीं है। अपना और अपने बच्चों का भविष्य बनाने की किताब है।

हम जो जिंदगी जी रहे हैं, उससे हम किसी-न-किसी का निवाला छीन रहे हैं, किसी-न-किसी को भूखों मार रहे हैं। अगर हम स्वराज्य लाना चाहते हैं, तो ये आदतें हम को खत्म करनी पड़ेगी।

3 नवंबर, 2009 सर्व सेवा संघ,
बनारस के विनोबा सभागृह में दिया गया अंतिम भाषण।
राजकमल प्रकाशन से छपी पुस्तक 'प्रभाष पर्व' से साभार।

*

टिप्पणियाँ

खादी और हम

विनोबाजी ने कभी कहा था, "भारत जैसा महान देश गुलाम नहीं रह सकता था। यदि गांधीजी न आए होते तो भी देश आजाद होता। किंतु गांधीजी न आए होते तो चरखा नहीं मिलता।" चरखा गांधीजी की मौलिक देन है। गांधीजी कहते थे चरखा अहिंसा का प्रतीक है। जैसे बंदूक और पिस्तौल हिंसा के प्रतीक हैं।

लोकमान्य तिलक के निर्वाण के बाद गांधीजी स्वतंत्रता आंदोलन के निर्विवाद नेता बने। उन्हें कांग्रेस की संविधान संशोधन समिति का संयोजक मनोनीत किया गया था। उन्होंने कांग्रेस के संविधान में चार आना देने वाले सामान्यजनों को कांग्रेस का सदस्य बनाने का प्रावधान किया और क्रियाशील सदस्यों के लिए सूत कताई करने और खादी पहनने की शर्त लगाई। उन्होंने कांग्रेस के सामने तिलक स्वराज फंड में एक करोड़ की राशि संग्रहीत करने का, चार आना देने वाले एक करोड़ सदस्य बनाने और देश में 20 लाख चरखे चलाने का लक्ष्य रखा। चरखे को आजादी के तिरंगे झंडे में स्थान दिया और इसे खादी का ही बनाने का आग्रह रखा।

इस प्रकार गांधीजी ने स्वराज्य के अहिंसक संग्राम में चरखे और खादी को केंद्रीय स्थान पर स्थापित किया था। व्यापक प्रचार-प्रसार करने के बाद सन् 1925 में कांग्रेस के प्रस्ताव से पटना कांग्रेस अधिवेशन में प्रस्ताव द्वारा अखिल भारतीय चरखा संघ की स्थापना की गई। गांधीजी को उसका अध्यक्ष तथा पंडित जवाहरलाल नेहरु व श्री शंकरलाल बैंकर को उसका मंत्री मनोनीत किया गया।

गांधीजी ने अपने जीवन का महत्वपूर्ण समय खादी कार्य में लगाया। वे खादी की प्रवृत्ति पर सतत चिंतन और प्रयोग करते रहे। उन्नत चरखा खोजने वाले को एक लाख का पुरस्कार देने की घोषणा की। कताई करने वाली बहनों को 'जीवन निर्वाह पारिश्रमिक' देने के आग्रह किया। सन् 1944 में चरखा संघ का नवसंस्करण करने का उनका सबसे क्रांतिकारी निर्णय था। खादी के लिए उनका अमर संदेश है

'कातें वे खादी पहनें, पहनें वे जरूर कातें, कातें तो समझबूझ कर और पहनें तो समझबूझ कर।' यह संदेश भविष्य की खादी का आधार है।

आजादी के आंदोलन में चरखा-संघ स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों का प्रशिक्षण केन्द्र और प्रेरणा केंद्र था। चरखा संघ ने ही आजादी का संदेश गांव-गांव की गरीब कत्तिनों तक पहुंचाया था और उन्हें आजादी के आंदोलन में सहभागी बनाया था। गांधीजी ने रचनात्मक और राजनैतिक प्रवृत्तियों को अलग-अलग रखा था, किंतु दोनों के बीच गहरा नैतिक संबंध रहा। उस समय की राजनीति त्याग, कष्ट सहन और लोकसेवा की ही प्रवृत्ति थी।

आजादी के बाद इस संदर्भ में गुणात्मक परिवर्तन हो गया। अब राजनीति में से त्याग, कष्ट सहन और लोक सेवा का तत्व निकल गया है और अब वह सत्ता प्राप्त करने का माध्यम भर बन कर रह गई है।

सन् 1962 में चीन के हमले के समय सरकार ने नारा दिया थाः सोना देकर शस्त्र बुलाओ। इसका उल्लेख कर विनोबाजी कहते थे, 'पारस पत्थर में यह गुण है कि वह अपने स्पर्श से लोहे को सोना बना देता है लेकिन सरकार को सोना दोगे तो वह उसे लोहा बना देगी!' आजादी के बाद खादी को सरकार का स्पर्श हुआ और पंडित नेहरु के शब्दों में जो कभी आजादी की वर्दी थी वही खादी चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की वर्दी और बाजारू वस्तु बन गई। आदतन खादी पहनने वाले नेता दिवंगत होते गए और उनके वारिस नकली अप्रमाणित खादी नाम का वस्त्र पहनने लगे। इस प्रकार खादी और खादी वाले मिल-वस्त्र पहने अफसरों की दया पर आश्रित हो गए। इस प्रकार खादी की तेजस्विता क्षीण हो गई।

यह इसलिए हुआ क्योंकि सरकार की मदद लेने के लिए खादी वालों ने इसे कम से कम पूंजी से अधिक से अधिक गरीबों को रोजगार देने भर का माध्यम मान लिया। चरखे में जो क्रांति तत्व था, उसकी उपेक्षा की गई।

इसलिए भविष्य की खादी का स्वरूप 'अ-सरकारी खादी' का ही होगा। खादी की वर्तमान दुरावस्था का एक बड़ा कारण है सरकार पर निर्भरता। जाहिर है कि सरकार की दासी बन कर खादी नहीं बच सकेगी। इसलिए अब सबसे पहले खादी के लक्ष्य और उद्देश्यों का पुनर्निर्धारण आवश्यक है।

जो हुआ सो हुआ, उसे भूल कर पुराने अनुभव से शिक्षा ग्रहण कर खादी सेवकों को वर्तमान परिस्थिति का वस्तुनिष्ठ आकलन कर अपनी व्यूहरचना में सुधार करना चाहिए।

नरेन्द्र दुबे

*

पत्र

सचिवालय के दफ्तर और घर में ढेरों पत्रिकाएं आती हैं। ढेरों किस्म की व्यस्तताओं के बीच उन पत्रिकाओं को पलटते हुए, नजरें 'गांधी-मार्ग' को ही ढूंढती हैं। 'गांधी-मार्ग' यानी सुकून की घड़ी । 'गांधी-मार्ग' यानी किसी बरगद की छांव तले आराम। 'गांधी-मार्ग का प्रत्येक अंक पढ़ने के बाद अगले अंक का इंतजार होने लगता है।

मुझे बचपन से ही पत्र-पत्रिकाएं पढ़ने का शौक रहा है। बचपन में मुझ पर जिन पत्रिकाओं का प्रभाव रहा है उनमें एक राजस्थान सरकार की पत्रिका 'शिविरा' थी। उस पत्रिका के अनेक अंक मेरे पास आज भी संग्रहीत हैं। उन दिनों श्री शिवरतन थानवीजी 'शिविरा' के संपादक थे।

हरियाणा का शिक्षा विभाग देखते हुए जब हमने 'शिक्षालोक' पत्रिका शुरु की, तब भी हमने 'शिविरा' से ही प्रेरणा ली। लेकिन आज तो पत्रिकाओं की बाढ़ है, जिनमें अधिकतर कबाड़ है। कबाड़ की इस बाढ़ में 'गांधी-मार्ग' एक मजबूत बरगद की तरह खड़ा है। जो भी इसकी छाया में बैठता है, चैन की सांसें मिलती हैं।

भागम-भाग और चमक-दमक भरे जीवन में गांधी-मार्ग की सादगी, हंफा देने वाली दिनचर्या में ठहरकर, सजगता और संवदेनशीलता से अपने आस-पास को देखने समझने की प्रेरणा देती है तथा अपने सामाजिक प्रशासनिक सरोकारों का बोध कराती है।

पूरा गांधी-मार्ग न भी पढ़ पाएं तो भी 'पुराना चावल' तथा 'पोथी पढ़ि-पढ़ि' तो अवश्य पढ़ते हैं। गांधी-मार्ग का जिक्र अक्सर मैं मुख्यमंत्री श्री भूपेन्द्र सिंह हुड्डाजी से भी करता हूं। अभी हाल ही में हमने हमारी अकादमियों– हरियाणा साहित्य अकादमी और पंजाबी साहित्य अकादमी से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं– हरिगंधा और शबद बूंद को बदला है। हमारी हरियाणा स्काउट संवाद पत्रिका का मुख्य प्रेरणा स्रोत भी गांधी-मार्ग ही है।

गांधी-मार्ग जैसी सादी और दृढ़निश्चयी पत्रिकाएं बची ही कितनी हैं, लेकिन शायद दृढ़निश्चयी लोग थोड़े ही होते हैं। जब इतिहास खंगाला जाता है तो वही लोग आने वाली पीढ़ियों के लिए मिसाल भी बनते हैं।

भगदड़ी तेज हवाओं के बीच

गांधी-मार्ग निस्संदेह एक दीये-सा टिमटिमा रहा है और प्रकाशपुंजों के अर्थ दीए से ही निहितार्थ होते हैं। गांधी-मार्ग जैसी सादगीपूर्ण, सुरुचिपूर्ण और संकल्पवान पत्रिका के लिए आपको पुनः बधाई देता हूं।

शुभकामनाओं सहित।

डा. कृष्णकुमार खंडेलवाल,
आई.ए.एस., अतिरिक्त प्रधान सचिव
मुख्यमंत्री एवं वित्तायुक्त हरियाणा सरकार।
519, सेक्टर-16, चंडीगढ़

*

अभी मैंने जुलाई-अगस्त का गांधी-मार्ग एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़ लिया। मैं यहां किसी भी लेख की समीक्षा करना नहीं चाहता। मूल लेख ही पढ़ लेना ज्यादा अच्छा होगा।

पहली बार गांधी-मार्ग पढ़ने पर कुछ बातों के विषय में मुझे बहुत ही खुशी महसूस हुई। सब तो नहीं पर उनमें से दो बातों का मैं यहां जिक्र करना चाहता हूं।

पहली बात तो यह कि गांधी-मार्ग का टाईप बहुत ही अच्छा चुना गया है। पत्रिका की छपाई देखते ही बनती है। टाईप और छपाई की ऐसी सावधानी के कारण इस पत्रिका को बहुत ही सुखपूर्वक पढ़ा जा सकता है। आंखों पर जोर नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह है कि लेखों का चुनाव बहुत ही अच्छा है। हरेक लेख अपने में पढ़ने लायक है। भाषा इतनी सरल और प्राणवान कि लेख का विषय दिल को छू लेता है। हरेक लेख में एक नयापन और जिंदापन है।

एली रेमंड गडकर, द्वारा डा. अजंनी माळवदे,
बी-3, विमान दर्शन, मगन नथुराम रोड, बैल बाजार, कुर्ला, मुंबई-400070

*

मार्च-अप्रैल अंक में सुधांशु भूषण का लेख बहुत अच्छा लगा। आंखें खोलने वाला है। इस लेख ने मुझे जापान में अमेरिकी सेना के सर्वोच्च सेनापति जनरल डगलस मैकआर्थर का एक कथन याद दिलायाः "सभ्यता के विकास में यदि इसे जीवित बने रहना है तो सब लोगों को गांधीजी का यह विश्वास अपनाना ही होगा कि विवादास्पद मुद्दों को सुलझाने में बल के सामूहिक प्रयोग की प्रक्रिया बुनियादी तौर पर न केवल गलत है, बल्कि इसमें तो आत्मघात के बीज ही विद्यमान हैं।"

विश्वनाथ टंडन,
1154, रतनलाल नगर, कानपुर-208022(उ.प्र.)

*

बेटी है तो कल है

बेटियाँ, शुभ कामनाएँ हैं,
बेटियाँ, पावन दुआएँ हैं।

बेटियाँ, ज़ीनत हदीसों की,
बेटियाँ, जातक कथाएँ हैं।

बेटियाँ, गुरुग्रंथ की वाणी,
बेटियाँ, वैदिक ऋचाएँ हैं।

बेटी बचाओ अभियान

बेटियों के हक़ में मध्यप्रदेश

कविता- अज़हर हाशमी

मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी

आकल्पन : मध्यप्रदेश माध्यम/2011

रजिस्टर्ड नं 4545 / 57

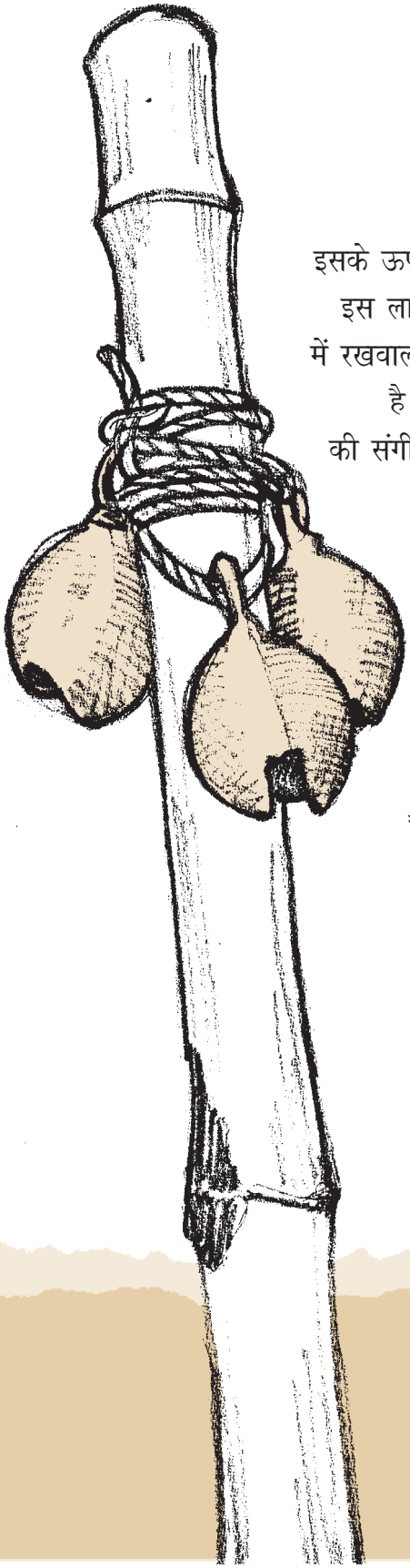

एक लाठी है। लेकिन यह साधारण लाठी नहीं है। इसके ऊपरी सिरे पर बड़े आकार के दो-चार घुंघरू लगे हैं। इस लाठी का नाम है खांकर। खांकर लेकर महिलाएं वन में रखवाली करती हैं। हर कदम पर लाठी जमीन पर लगती है और खांकर के घुंघरू खनक जाते हैं। एक खांकर की संगीतमय ध्वनि वन की घनी चुप्पी को तोड़ती वन के दूसरे भागों में इसी तरह रखवाली कर रही अन्य महिलाओं को एक दूसरे से जोड़े रखती है। यह संगीतमय लाठी एक अन्य सुरीली व्यवस्था का भी अंग है। सांझ को वन की रखवाली के बाद महिलाएं गांव वापस आती हैं और अपनी खांकर अपने घर के दरवाजे के आगे न रख किसी अन्य महिला के दरवाजे पर टिका देती हैं। इसका अर्थ है कल उस घर की महिला खांकर लेकर वन रखवाली के लिए निकलेगी।